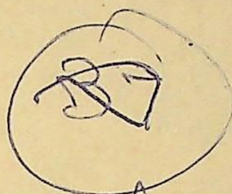
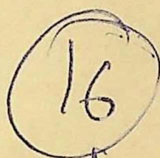


৪৪৮

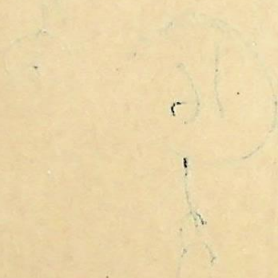


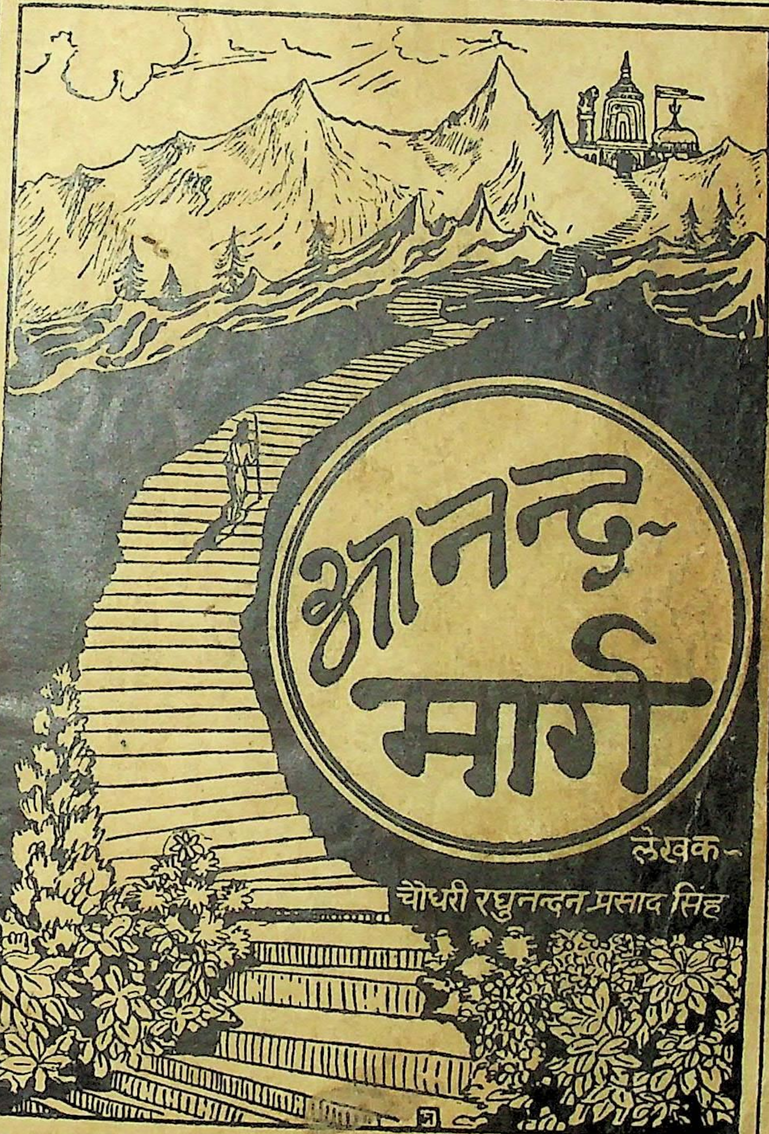












आनन्द-
मार्ग
लेखक-
चौधरी रघुनन्दन प्रसाद सिंह

ॐ

आनन्द-मार्ग

लेखक—

चौधरी रघुनन्दनप्रसाद सिंह

मुद्रक तथा प्रकाशक—

घनश्यामदास जालान,

गीताप्रेस, गोरखपुर ।

प्रथम संस्करण ३२५०

सं० १९९२

मूल्य ||-) नौ आना

पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर ।

श्रीहरिः



भूमिका

श्रद्धेय पण्डित श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम. ए., आचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदिके अनुरोधसे यह आनन्द-मार्ग, जिसमें कुछ लेखोंका संग्रह है, पुष्पाञ्जलिकी भाँति श्रीभगवान्‌को समर्पित किया जाता है। इस संग्रहमें भगवत्प्राप्तिकी यथार्थ साधना एकांशिक भावमें न होकर उनके प्राथमिक, माध्यमिक, अन्तिम आदि सर्वाङ्ग प्रदर्शित किये गये हैं। ब्रह्मचर्य आदि जो साधनाकी भित्ति है उनसे प्रारम्भकर सब उपासनाओंका मूल सन्ध्योपासनाद्वारा वेद-माता परमा विद्या गायत्रीकी उपासना है, उसपर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है, जो परमावश्यक है। नाम-स्मरणका महत्त्व और रहस्य, उसके अभ्यासमें निष्कामभावकी परमा-वश्यकता आदिका प्रदर्शन परमोपयोगी है। एक मुख्य सत्य यह प्रकाशित किया गया है कि वैराग्य और सच्चरित्रताकी प्राप्ति होनेपर ही भगवत्प्रेमके अनुसन्धानमें अधिकार प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। अर्थात् वैराग्य और साधु-चरित्रता आदि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीभगवान् रामचन्द्रके अलौकिक पावन कीर्ति और लीलाके अनुशीलनसे प्राप्त करके परम पवित्र और रहस्यमय व्रज-लीलाके प्रेमका अधिकार प्राप्त होता है। ये दोनों अवतार यथार्थमें एक हैं और इनमें भेद-भाव मानना अनर्थ है। इसमें व्रज-लीलाका

रहस्य और उसकी परम पवित्रतापर उत्तम प्रकाश डाला गया है, क्योंकि इसके विषयमें अनेक भ्रम फैले हुए हैं। उपास्य देवोंकी एकता भी इसकी विशेषता है। इसमें शिवोपासना और शक्ति-उपासनाका यथार्थ तत्त्व और सबके लिये उसकी परमोपयोगिता प्रदर्शित की गयी है जिसको अनेक लोग नहीं जानते हैं और जिस विषयमें भी अनेक संस्कार पाये जाते हैं। योगके विषयमें अनेक मत हैं किन्तु यथार्थ योग क्या है यह इसमें योगका परम शास्त्र श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर दिखलाया गया है जिससे उच्च प्रमाण कोई हो नहीं सकता। एक परम गोपनीय और परम रहस्यमय सिद्धान्त इसमें यह प्रकाशित किया गया है कि यथार्थ सद्गुरु कौन हैं और उनसे सम्बन्ध किस प्रकार प्राप्त होता है? इसमें परम गोप्य हृदय-तत्त्व प्रकाशित किया गया है। परमावश्यक विषय श्री-भगवद्दर्शन, भगवत्प्राप्तिका रूप और साधनाका उत्तम प्रामाणिक विचार भी इसमें है। यथार्थ भगवत्-शरणागति क्या है और उसकी उत्कर्षता जिसके कारण भक्त मोक्षका त्याग करते हैं इस परम रहस्यका इसमें उद्‌घाटन किया गया है। सबसे परम उपयोगी और परम सर्वहित सिद्धान्त जो इसमें प्रकाशित किया गया है वह 'अन्तिम भगवद्गीताका निरूपण है जिसमें सब धर्मोंका परम सार श्रीभागवत धर्मका उल्लेख है जिसका सबको मननकर अपने आचरणमें परिणत करना चाहिये। आशा है कि पाठकगण इस पुस्तकको श्रद्धा और मनोयोगसे पढ़ेंगे और परम आनन्दके मार्गकी जानकारी प्राप्तकर तथा उसका अनुसरणकर आनन्दकी लब्धि करेंगे जो भगवत्-शरणागतिसे ही मिलती है।

'दीन'

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय — पृष्ठसंख्या





श्रीविष्णु भगवान्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

आनन्दमार्ग

ब्रह्मचर्य



वर्तमान समयमें प्रायः सर्वत्र अशान्ति, रोग, शोक, बलहीनता, अकर्मण्यता, अकालमृत्यु, दरिद्रता, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और असत्य आदि दोष अधिकतासे दृष्टिगोचर होते हैं जिनके कारण समाजका जीवन सुखमय होनेके बदले दुःखमय हो रहा है। एक विलक्षणता यह है कि आज धनी-मानी भी चिन्ताग्रस्त पाये जाते हैं और उनके अभाव भी कम नहीं हैं। इस शोचनीय दशाका मुख्य कारण ब्रह्मचर्याश्रमधर्मके पालनका अभाव है जो प्रथम आश्रम होनेसे अन्य सब आश्रमोंकी मूल भित्ति है। जब मूल नहीं है तो शाखा कहाँसे आवेगी?

अविद्याने अपने तमोगुण और रजोगुणके विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान आदिके द्वारा जीवात्माको आवेष्टित करके उसे अपने आत्मानन्दके राज्यसे च्युत कर दिया है । अज्ञानताके कारण जीवात्मा अपने इन परम शत्रुओंको मित्र समझकर उनके पंजेमें फँस जाता है और इस प्रकार उसका परमार्थ तथा यह संसार दोनों बिगड़ जाते हैं । अविद्या और उसके विकारोंसे छुटकारा पाये बिना जीवात्माका न संसार सुखद होगा और न उसे परमार्थका लाभ होगा । अतएव विद्यासे अविद्याका नाश करना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य और परम श्रेयस्कर कार्य है । इसका मुख्य साधन ब्रह्मचर्यका पालन है और इसी कारण यह अन्य सब साधनों-का बीज है । कामादि विकारोंका अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं । इनके विकारोंको दमन करना और अन्तरात्माको शुद्ध-सात्त्विक भावसे रञ्जित करना ही ब्रह्मचर्य है और इसीके लाभसे यथार्थ विद्या (पराविद्या) की प्राप्ति होती है, जिससे उस अज्ञानका नाश होता है जो समस्त अनर्थ और क्लेशोंका मूल है । अतएव प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यका पालनकर विद्याकी प्राप्तिके लिये क्रमशः आवश्यक यत्न करना मुख्य कर्तव्य है । यदि इस विद्याभ्यासके साथ-साथ ब्रह्मचर्य-के द्वारा कामादि विकारोंका दमन, चरित्रसंगठन, अन्तरात्माका आभ्यन्तरिक विकास आदि न हुए तो पीछे इनका सम्पन्न होना असम्भव है, क्योंकि यही इस महत्कार्यके लिये उपयुक्त काल है ।

ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे सब प्रकारकी विद्याओंका प्राप्त होना सुगम हो जाता है, परीक्षोत्तीर्ण होना तो यथार्थ ब्रह्मचारीके लिये

सामान्य खेल है। जिसको इस प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यका लाभ हुआ, वह संसारके संग्राममें भी जय पावेगा अर्थात् यहाँ उन्नति करेगा और परलोकमें भी परम शान्तिको प्राप्त होगा। किन्तु इसके अभावमें चरित्रहीन लौकिक विद्याके निपुण विद्वान् भी अपनी और समाजकी हानि ही करता है वह कदापि इहलौकिक अथवा पारलौकिक यथार्थ उन्नति नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही प्राचीन कालमें इस देशमें बड़े-बड़े विद्वान्, योद्धा, तपस्वी, मनस्वी, त्यागी, तत्त्वविवेकी, समाजके नेता, दानी आदि महान् पुरुष हो गये हैं, जिनकी अमानुषी शक्ति और कीर्तिकी स्मृतिमात्रसे आज संसारको विस्मित होना पड़ता है। इस देशका अभ्युत्थान और स्थायी अभ्युदय फिर भी इस ब्रह्मचर्यको पुनरुज्जीवित करनेसे ही होगा, अन्यथा नहीं।

आजकल विद्यार्थियोंको पाठशाला, स्कूल और कालिजोंमें केवल लौकिक विद्याकी शिक्षा दी जाती है। धार्मिक शिक्षा और चरित्रगठनके लिये कोई यत्न नहीं होता, न आज विद्यार्थी ब्रह्मचर्य-के नियमोंके पालनमें ही प्रवृत्त कराये जाते हैं। यही उनके सर्व-नाशका कारण है। शास्त्रमें ब्रह्मचारीके लिये लौकिक (जीविका-जन्य) शिक्षा देनेका विधान अवश्य है और यह आवश्यक भी है परन्तु ऐसी शिक्षा जो केवल लौकिक हो और जिसके साथ धर्मकी शिक्षा और ब्रह्मचर्य यानी इन्द्रिय-निग्रहके नियमोंका पालन आदि न हो, वह हेय है (मनु अ० २ श्लोक १६८ देखिये)।

अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि लौकिक शिक्षाके साथ ही उपयुक्त धार्मिक और नैतिक शिक्षा तथा ब्रह्मचर्यके इन्द्रिय-

निग्रह आदि आवश्यक नियमोंके पालनका प्रचार अवश्य किया जाय, नहीं तो समाजकी स्थायी उन्नति और उसका कल्याण असम्भव है।

ब्रह्मचर्यके दो प्रकारके नियम हैं। इनमें भैक्ष्यचर्या, समिदाधान, गुरुकुलवास, मौंजी-मेखला आदिका धारण बाह्य हैं। इन्द्रिय-निग्रहके नियम, सात्त्विक भोजनका सेवन, राजसिक-तामसिक प्रवृत्तियोंका त्याग, धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन, सन्ध्योपासना, होम और स्वाध्याय आदि आन्तरिक हैं। बाह्य नियमोंका समयानुसार परिवर्तन हो जाता है। अतएव इस समय उनमें कुछ परिवर्तन करना चाहिये और जिनका पालन वर्तमान सामाजिक अवस्थाके कारण असम्भव हो, उनका नहीं करना चाहिये परन्तु आन्तरिक नियमोंका पालन तो सभी कालमें आवश्यक है और उनका पालन समयानुसार कहीं-कहीं उपयुक्त परिवर्तन कर अवश्य करना चाहिये। यानी ब्रह्मचर्यके आन्तरिक भाव और उद्देश्यका अवश्य ही पालन हो और उसके सम्पादनमें बाह्य नियममें समयानुसार परिवर्तन किया जाय। इसमें इन्द्रिय-निग्रह, राजसिक और तामसिक भावका दमन, अज्ञाननाश और ज्ञानप्राप्तिके लिये यथार्थ योग्यता प्राप्त करनेकी साधना आदि मुख्य हैं और इनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

अतएव वर्तमान समयमें यह परमावश्यक है कि इनका प्रचार और पालन विद्यार्थीसमाजमें अवश्य किया जाय। इन्द्रिय-निग्रहमें उपस्थ इन्द्रियका निग्रह सर्वोपरि है क्योंकि कामदमनसे वीर्यकी रक्षा होती है जो मेधा, बल, धृति, आयु, स्मृति, साहस, स्वास्थ्य, पौरुष,

विवेक और बोधशक्ति आदिका खजाना है। वीर्यकी रक्षा एक प्रकारसे सब उन्नतिका मूल है और इसके दुरुपयोग तथा अकाल-व्ययसे सब अच्छे गुण नष्ट होते हैं। लिखा है **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'** (हठयोगप्रदीपिका ३ । ८८)। वीर्यके नाशसे मृत्यु होती और धारण से जीवन बना रहता है। विद्यार्थीको चाहिये कि स्त्रीमात्रको श्रीभगवती जगज्जननीका रूप मानकर उनको पूज्य माने। सप्तशतीमें लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
(मार्क० पु० ८८ । ५)

'हे देवि ! सम्पूर्ण विद्याएँ आपहीके भेद हैं और संसारकी सब स्त्रियाँ आपके ही रूप हैं।' विद्यार्थीका वीर्य अमोघ रहना चाहिये। मनुकी आज्ञा है कि यदि ब्रह्मचारीका स्वप्नमें भी वीर्यपात हो तो उसको उसका प्रायश्चित्त कर उसकी पूर्ति करनी चाहिये (अ० २ श्लोक १८१)। अस्वाभाविक रूपसे भी कदापि वीर्यपात न करे और न होने दे, क्योंकि अस्वाभाविक कामाचार परम जघन्य, अत्यन्त भयानक, हेय और पाप है तथा वह सर्वनाशका मूल है।

गच्छतां कामतः पुंसः स्त्रियाः पायुं दुरात्मनाम्।
बध एव विधातव्यो भूभृता शम्भुशासनात्॥
(महानिर्वाणतन्त्र उल्लास २२ श्लोक ४४)

'जो दुरात्मा कामसे प्रेरित हो पुरुष अथवा स्त्रीके साथ अप्राकृत व्यभिचार करते हैं उनका महादेवजीकी आज्ञानुसार राजा

बध करे ।' हस्तमैथुन भी इसी प्रकार महा अनर्थकारी तथा सर्वनाशकारी है और महान् गर्हित पाप है । विद्यार्थीको सदा अकेले सोना चाहिये (**एकः शयीत सर्वत्र**) । किन्तु इस कामदमनके लिये परमावश्यक है कि राजसिक, तामसिक पदार्थोंके भोजनका त्याग करे और भोजनमें केवल सात्त्विक पदार्थ व्यवहार करे, असत्संगको विष समझ सर्वदा त्याग करे, सत्संगति, ईश्वरोपासना, भगवन्नामस्मरण आदिका निरन्तर अभ्यास करे, दुर्भावनाको चित्तमें स्थान न लेने दे और सदा शुभ भावनामें प्रवृत्त रहे । लिखा है—**'असङ्कल्पाज्जयतात्कामम्'** कुत्सित विषयवासनाके त्यागसे कामको जय करे ।

विद्यार्थीको मत्स्य, मांस, लाल मिर्च, प्याज, लहसुन, गरम मसाला, भाँग, गाँजा, तंबाकू, सब प्रकारके धूम्रपान (जिसमें सिगरेट-बीड़ी भी शामिल है) आदिका कदापि व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सब पदार्थ इन्द्रियोत्तेजक, राजसिक, तामसिक भावना और कर्मके उत्पन्न करनेवाले हैं । ब्रह्मचारीके लिये पान खाना भी निषिद्ध है ।

ब्रह्मचारी विद्यार्थीको आजकल भी प्रतिदिन सन्ध्योपासना और होम करना चाहिये और अपनेको ब्रह्मचारी समझना चाहिये । ब्रह्मचर्यके इन्द्रियनिग्रहके नियमको पालनकर विधिपूर्वक श्रद्धासे सन्ध्योपासना करनेसे मेधा, बल, वीर्य, तेज, स्वास्थ्य, आयु, आभ्यन्तरिक बोधशक्ति आदिकी प्राप्ति होगी और वह एक योग्य

नागरिक बन जायगा जिसके द्वारा समाजका कल्याण होगा। मनुका वचन है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

(४। ९४)

दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करनेके कारण ऋषियोंको दीर्घायु प्राप्त हुई और उससे उन्हें प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हुई। सन्ध्यामें जो प्राणायाम है, उसके करनेसे स्वास्थ्यकी बड़ी उन्नति और मनकी स्वच्छता होती है। लिखा है—**'प्राणायामः परं बलम्'** और **'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'**—प्राणायाम बहुत बलका देनेवाला है और उससे दोषोंका नाश होता है। श्रीराममूर्ति आदि जो अद्भुत शारीरिक बलको प्रकाशित करते हैं वह मुख्यतः प्राणायामके कारण हैं जिसको वे अपने व्याख्यानोंमें स्वीकार भी करते हैं। ब्रह्मचारी विद्यार्थीको नित्य होम भी करना चाहिये जिससे देवताओंकी पुष्टि होती है, रोगोंकी निवृत्ति होती है और वर्षा होनेमें सहायता मिलती है। धूप, गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थ अथवा तिल, जौ, चावल, शर्करा, घी आदिको अग्निमें गायत्री मन्त्रके अन्तमें स्वाहा जोड़कर उसके द्वारा श्रद्धासे हवन करनेसे नित्यका हवन सम्पन्न हो जायगा।

ब्रह्मचारीके लिये बाह्य और अन्तर दोनों प्रकारके शौचका पालन करना भी आवश्यक है। बाह्य शौचमें सूर्योदयके पूर्व उठना, अच्छी तरह दन्तधावन करना, प्रातःस्नान, स्वच्छता, शुद्ध वायुका सेवन, शिरके सिवा अन्य अंगोंमें सूर्यतापका स्पर्श, शुद्धिके

लिये मिट्टी और जलका विशेष व्यवहार, वस्त्र, स्थान और गृहकी सफाई आदि मुख्य हैं। अनेक रोग दाँतको अच्छी तरह साफ और दृढ़ न करनेके कारण होते हैं। अतः दन्तधावन अवश्य करना चाहिये। व्यायाम भी शौचके अन्तर्गत है जो विद्यार्थी ब्रह्मचारीके लिये परमावश्यक है। अन्तःशौचके लिये अहिंसा, सत्य, प्रेम, निरभिमानता, मैत्री आदिका अभ्यास और सब प्रकारकी विलासिता-का त्याग मुख्य है। विद्यार्थीके लिये मनको एकाग्र और शुद्ध करनेका यत्न करना आवश्यक है, क्योंकि उत्तम और कुत्सित दोनों प्रकारके कर्मोंका कारण मन ही है। विद्यार्थी ब्रह्मचारीका भोजन केवल शरीर-रक्षाके लिये होना चाहिये न कि स्वादके लिये। उनके वस्त्र केवल शरीरके आच्छादन और शीत-घामके निवारणके लिये होने चाहिये न कि शोभा-सजावट या दिखानेके लिये!

ब्रह्मचर्याश्रमके आन्तरिक नियम सब प्राकृतिक हैं, अतएव सब देशों और सब धर्मोंके विद्यार्थियोंको इनका पालन करना चाहिये। हिन्दू बालक गायत्रीकी उपासना करें। मुसलमान बालक नमाज़द्वारा प्रार्थना करें। ईसाई बालक अपनी रीतिसे प्रभुप्रार्थना करें और यथार्थमें यह सभी तुल्य हैं। आशा है कि देशके नेतागण इस ब्रह्मचर्यके विशेष प्रचार करनेमें विशेष यत्नवान् होंगे, क्योंकि देश, समाज और व्यक्ति आदिकी उन्नतिका यही मूल है और इसकी अवहेलनासे किसी प्रकारकी भी यथार्थ उन्नति सम्भव नहीं है।



ब्रह्मचर्यकी परमोपयोगिता और उत्तम सन्तति





शास्त्रोंमें कहा गया है कि कलियुगमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ केवल दो ही आश्रम रहेंगे। पर आजकल इन दोनोंमें भी चतुर्वर्गके मूल कारण ब्रह्मचर्याश्रम-का लोप-सा ही दीख रहा है। ब्रह्मचर्यका अर्थ सारी इन्द्रियोंका निग्रह करना है परन्तु सब इन्द्रियोंमें जननेन्द्रिय बहुत बलवान् है एवं इसके निग्रह न होनेसे सर्वनाशकी सम्भावना है, इसलिये ब्रह्मचर्यका प्रधान अर्थ जननेन्द्रियका निग्रह ही किया जाता है।

जननेन्द्रियका निग्रह केवल विद्यार्थियोंके लिये ही नहीं है, इसकी आवश्यकता बाल, युवा, वृद्ध आदि सभी आश्रमोंको है। गृहस्थाश्रममें भी इसकी विशेष जरूरत है। विद्यार्थी-अवस्थाको तो

ब्रह्मचर्याश्रम केवल इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रारम्भिक किशोरावस्थामें ब्रह्मचर्यपालन न होनेसे फिर इसकी प्राप्ति असम्भव है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यका नाश हुआ तो मानो जीवनका ही सर्वनाश हो गया। क्योंकि फलयुक्त नवजात वृक्षोंमें मंजरी लगनेपर वह इसीलिये तोड़ दी जाती है कि छोटे वृक्षमें फल लगनेसे वह फल खराब होगा और वृक्ष भी बिल्कुल निकम्मा हो जायगा। अब सोचनेकी बात है कि जब ब्रह्मचर्यके अभावसे जड वृक्षकी ऐसी दुर्दशा होती है तो फिर चेतन मनुष्यकी क्या दशा होगी? परन्तु दुःख है, यह सब देखकर भी आज ब्रह्मचर्यके महत्त्वकी, और उसके नाशसे होनेवाली बहुत बड़ी हानियोंकी ओर लोगोंका कुछ भी खयाल नहीं है। बाल, युवा, वृद्ध सभी बेधड़क ब्रह्मचर्यका नाश कर रहे हैं। महाभारत-अनुशासनपर्वमें कहा है—

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप॥

(७५। ३५)

'हे राजन्! जो आजन्म ब्रह्मचर्यपालन करता है उसे कुछ भी अप्राप्य नहीं है।'

छान्दोग्य उपनिषद्के अष्टम अनुवाकके १-५ में कहा है कि 'ब्रह्मचर्यसे यज्ञ, इष्ट, आत्माका लाभ और ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।' धर्मशास्त्रका कथन है कि गृहस्थ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें वर्जित तिथि और पर्वदिनोंको छोड़कर स्त्री-सहवास करे तो उसका ब्रह्मचर्य नाश नहीं होता। वह ब्रह्मचारी ही बना रहता है।

ब्रह्मचर्यपालनसे ही भीष्मपितामहको अपरिमित पौरुष, अमोघ ज्ञान और इच्छामृत्यु प्राप्त हुई थी। श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्मचर्यके बलसे ही मेघनादका बध किया था। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही श्रीशुकदेवजी पिता वेदव्यासजीसे भी उच्च समझे गये थे। कुमारगण और नारदका ब्रह्मचर्यके कारण ही उच्च स्थान है। इस समय भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिस गृहस्थने युवावस्थामें ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर भी पीछे सचेत होकर ब्रह्मचर्यका पालन किया वह सब प्रकारसे बड़ा प्रभावशाली होकर लोकनायक बन गया।

भारतवर्षकी वर्तमान अवनतिका प्रधान कारण भारतवासियों-का शरीर, मन, बुद्धि और शक्तिमें हीन होना है। अधिकांश भारतवासी आज रोगग्रस्त हैं। यदि किसीको बड़ा रोग नहीं है तो वह शरीरसे कमजोर है। किसीका शरीर बाहरसे कुछ ठीक भी है तो उसके अन्दर मेधा और बुद्धि-बल नहीं है, और न कार्य करनेकी और न सोचनेकी शक्ति ही है। इस प्रकार आज जो अधिकांश भारतवासी जीते हुए ही मुर्देके तुल्य बने हुए हैं, इसका प्रधान कारण ब्रह्मचर्यका नाश है। यह अटल और निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्यपालनके बिना हजार चिल्लानेसे या दूसरे प्रकारकी उन्नतियोंसे समाजका यथार्थ अभ्युदय और कल्याण कभी सम्भव नहीं। अतएव बालक-बालिकाओंके ब्रह्मचर्यरक्षाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये एवं इसके लिये विद्यालयोंका भलीभाँति निरीक्षण करना चाहिये। सत्संगसे ब्रह्मचर्यपालन और कुसंगसे ब्रह्मचर्यका

नाश होता है । बालकोंको अच्छी संगतिका विशेष ध्यान होना चाहिये ।

सन्तान हृष्ट-पुष्ट और मेधावी कैसे हो ?

यदि हमलोग विवाहसंस्कारको कामाचार न समझकर परम यज्ञ और पवित्र संस्कार समझें एवं स्त्रीसहवासको भी पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सुसन्तानकी उत्पत्तिका साधन समझकर परम यज्ञ मानें तो सुसन्तान अवश्य ही उत्पन्न हो सकती है ।

स्त्रीसहवासको भोगलिप्सा बनानेसे स्त्री-पुरुष दोनोंके स्वास्थ्य खराब होते हैं और आन्तरिक वृत्तियाँ कलुषित हो जाती हैं । ऐसे सहवाससे उत्पन्न सन्तान भी कलुषित भावोंवाली ही होती है । पर यज्ञ समझकर कर्तव्यरूपसे अनासक्त होकर स्त्री-सहवास करनेसे उत्तम, प्रभावशाली और तेजस्वी सन्तानका उत्पन्न होना सहज और अवश्यम्भावी है । खोजसे यह सिद्ध हो गया है कि दम्पतिके सहवास-समयके मानसिक भाव एवं गर्भाधानसे लेकर जन्मतकके मानसिक भावोंका अच्छा या बुरा प्रभाव गर्भस्थ सन्तान-पर बहुत ज्यादा पड़ता है और वह आजन्म उसमें रहता है । अतएव यह पूर्ण निश्चित है कि यदि गर्भाधानसे प्रसवपर्यन्त दम्पति अपने चित्तमें कोई कामवासना न आने दें, वैसी कोई क्रिया न करें एवं गर्भकालमें कभी सहवास न करें; दोनों स्त्री-पुरुष खासकर माता केवल उत्तम भावनाओंको ही मनमें स्थान दे, उत्तम कामोंमें लगी रहे, सत्संग और उत्तम बातें करे, उत्तम पुस्तकोंको पढ़े या

सुने, साधु, सज्जन और धर्मवीरोंके चरित्रोंका पठन-पाठन एवं उन्हींकी आलोचना करे और सदा-सर्वदा श्रीभगवान्‌के गुण, यश, नाम और सामर्थ्यका स्मरण करे तो सन्तान अवश्य ही शरीरसे पुष्ट और बलिष्ठ होगी। उसे कभी कोई रोग नहीं होगा। वह निश्चय ही दीर्घायु होगी। वह मेधा, बुद्धि, विवेक, धर्म और नीतिके भाव आदि सद्गुणोंसे युक्त होगी। उसे विद्या, बुद्धि, बल, धर्म, भाव, ज्ञान, भक्ति आदिकी प्राप्तिमें कोई कठिनता नहीं पड़ेगी। वह अनायास ही बड़ी सुगमतासे इन्हें अवश्य प्राप्त करेगी। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि गर्भवती स्त्रीसे सहवास करनेवाला मातृ-संगमके पापका भागी होता है। यानी गर्भिणी स्त्रीको प्रसवके पूर्वतक मातृवत् समझना चाहिये। क्योंकि उस समय उसकी और गर्भस्थ सन्तानकी एकता है इसलिये उसके साथ सहवास करना मातृसंगमके समान है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है, क्योंकि उस समयकी मातापिताकी कामचेष्टाका प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर अंकित हो जाता है एवं इसके कारण वह सन्तान शक्तिहीन, कमजोर और अल्पायु ही नहीं होती, उसमें काम-वासनाका प्रबल बीज भी अंकुरित हो जाता है एवं मातापिताके दोषसे उसे इसका दुष्परिणाम जन्मभर भोगना पड़ता है।

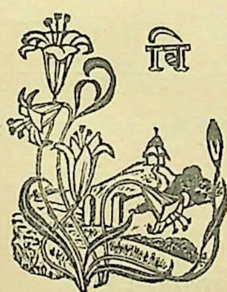
लेखकको ऐसे बहुत उदाहरण ज्ञात हैं कि जिनमें मातापिताके गर्भावस्थामें ब्रह्मचर्यपालन करनेसे जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे कभी कोई रोग ही नहीं हुआ। वह बहुत पुष्ट, दीर्घायु और नीरोग हुई। विद्या-बुद्धिमें भी उसने सहजहीमें बहुत उन्नति की।

अतएव प्रार्थना है कि अन्य समयमें ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो बहुत ही उत्तम है, पर कम-से-कम गर्भावस्थामें तो गर्भिणीको माता समझकर इस नियमका पालन अवश्य ही करना चाहिये। आवश्यक तो यह भी है कि सन्तान जबतक माताका दूध पीती रहे तबतक ब्रह्मचर्यकी रक्षा की जाय, क्योंकि भावनाका प्रभाव माताके दूधपर पड़ता है और उस दूधका प्रभाव दूध पीनेवाली सन्तानपर असर करता है। पर इसके लिये सन्तान-का दूध जल्दी नहीं रोकना चाहिये, क्योंकि सन्तानको माताका दूध जितने अधिक दिन मिलेगा, वह उतनी ही पुष्ट और नीरोग होगी।



विवाहसंस्कार

नवयुवकोंसे अपील



विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेकर वरका विवाह करना केवल सामाजिक कुप्रथा ही नहीं है किन्तु धर्म-ध्वंसकारी कार्य है। षोडश संस्कारोंमें विवाह भी उपनयनके समान एक मुख्य संस्कार है। कन्याके लिये विवाह ही उसका उपनयन है, जिसमें पति उसका आचार्य है। विवाहसंस्कारके उत्तम रीतिसे सम्पादन होनेसे उत्तम सन्तति उत्पन्न होती है और इस संस्कारको बिगाड़नेसे खराब सन्तति होती है। मनुका वचन है—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

(३। ४२)

प्रशस्त विवाहके द्वारा उत्पन्न सन्तान अच्छी होती है। निन्दित विवाहसे निन्दित सन्तानका जन्म होता है अतएव निन्द्य विवाह न करे। कुमारी कन्या शास्त्रके अनुसार स्वयं श्रीजगन्माता देवीकी प्रतिरूपा हैं, जिसकी पूजासे श्रीभगवती शीघ्र प्रसन्न होती हैं। स्मृतिमें कन्याको रत्न कहा है। पूर्वकालमें कन्याके पिताके पास जाकर वरके पक्षवाले कन्याके विवाहकी याचना करते थे और एक या दो जोड़े गाय-बैल कन्याके पिताको देते थे जो आर्षविवाह समझा जाता था। इस आर्षविवाहद्वारा कन्याके पिताको प्रसन्न करके कन्या ग्रहण करनेसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वह तीन पितृ आदि और तीन पुत्र-पुरुखोंको तारता है (मनु० ३। ३८)। इस कारण विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेनेसे वह विवाह-संस्कार न होकर वैसी ही खरीद-बिक्री हो जाती है जैसा कि घोड़े-बैल खरीदे जाते हैं। जिस प्रकार द्रव्य देकर कन्याका विवाह करना आसुरी विवाह है (मनु० ३। ३१), उसी प्रकार वरके पक्षवाले यदि कन्याके पक्षसे रुपये लेकर विवाह करते हैं तो वह भी आसुरविवाह है। मनुका वचन है—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥

(३। ४१)

ब्राह्म आदि चार विवाहोंके अतिरिक्त आसुर आदि चार हीन विवाहोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे निर्दय, मिथ्यावादी, वेदनिन्दक और धर्मद्वेषी होते हैं। शास्त्रके अनुसार कन्यादानमें तो कोई खर्च ही नहीं होना चाहिये। मनुका वचन है—

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥
(३ । ३५)

ब्राह्मणोंके लिये जलसे कन्यादान करना प्रशस्त है । क्षत्रियादि तीन वर्णोंमें जलके बिना भी दाता-ग्रहीताके वचनमात्रसे कन्यादान हो सकता है । कन्यारत्नके, जो साक्षात् देवी हैं, विवाहके निमित्त रुपया माँगना मानो साक्षात् जगन्माताका अपमान करना है । हिन्दू-जातिके वर्तमान अधःपतनके कारणोंमें एक मुख्य कारण विवाह-संस्कारको रुपयोंके लेन-देनद्वारा भ्रष्ट कर देना भी है । इस कारणसे उत्तम सन्तति उत्पन्न नहीं होती और इस शक्तिके अपमानके कारण ही हमलोग यथार्थमें शक्तिहीन हो गये हैं । अतएव धर्म और संस्कारकी रक्षाके निमित्त यह परमावश्यक है कि हमलोग प्रण करें कि विवाहमें रुपयेकी माँगको, जो पाप है, एकदम त्याग कर देंगे और सब प्रकारके व्यर्थ व्ययका भी त्याग करेंगे तथा धूम-धामको भी छोड़ेंगे । हमारे अविवाहित नवयुवकोंको दृढ़ शपथ करनी चाहिये कि वे घोड़े-बैलके समान विवाहके निमित्त द्रव्य लेकर नहीं बिकेंगे और कन्या-पक्षसे बिना कुछ भी द्रव्य लिये कन्या-रत्नको ग्रहण करेंगे और इस प्रकार विवाह-संस्कारको पुनरुज्जीवित कर धर्म और समाजका कल्याण करेंगे। ठहरौनी अथवा तिलककी कुप्रथाकी, जो महान् अनर्थका कारण है, सर्वथा इतिश्री कर देंगे ।



ब्राह्ममुहूर्त



इस विश्वमें ऐसा कोई कर्म, दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थ नहीं है जिसका उपयुक्त परिणाम न हो। किन्तु परिणामकी मात्रा रूप, समय और कर्मकी कुशलतापर निर्भर है। यह कुशलता कर्मकी मात्रा, देश, काल, उद्देश्य, शक्ति आदिकी उपयोगितापर निर्भर रहती है। इसी निमित्त गीताका वचन है **'योगः कर्मसु कौशलम्।'** एक ही प्रकारका कर्म उपयुक्त समय अथवा स्थानमें करनेसे सफल होता है किन्तु वही अनुपयुक्त समय और देशमें करनेसे विफल हो जाता है। देशसेभी काल प्रबल है। इसी कारण लिखा है कि काल सब कर्मोंका मुख्य कारण है। चारों युगोंमें जो बहुत बड़ा भेद पाया जाता है वह केवल कालकी ही विभिन्नताके कारण है। जैसे प्रत्येक मन्वन्तरमें चारों युग आते जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक दिनमें भी चारों युग बीतते हैं। प्रत्येक दिनमें रात्रिका शेष और दिनका प्रारम्भ-

भाग, जो ब्राह्ममुहूर्त कहा जाता है, दिनकी चौ-युगीका सत्ययुग है। इसी कारण शास्त्रका वचन है कि ब्राह्ममुहूर्तमें केवल धर्म-चिन्तन, ब्रह्मोपासना आदि परमार्थसम्बन्धी कार्य ही करने चाहिये। उक्त समयको सांसारिक स्वार्थसम्बन्धी कार्योंमें बिताकर उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। देखा जाता है कि ब्राह्ममुहूर्तमें पाठ याद करनेवाले विद्यार्थी जितना शीघ्र उसे हृदयस्थ और कण्ठस्थ कर लेते हैं अन्य समय अधिक कालमें भी उतना कदापि नहीं कर पाते। कारण यह है कि जितने ऋषि, महर्षि, सिद्ध और देव आदि हैं, वे सब-के-सब ब्राह्ममुहूर्तमें ही ब्रह्मचिन्तन करते हैं। उनके चिन्तनका प्रभाव तेजरूपमें उस समय विश्वभरमें छाया रहता है। जो लोग उस समय उपयुक्त प्रकारसे उपयुक्त मानसिकभावमें स्वयं ब्रह्मचिन्तनमें नियुक्त रहते हैं वे उस तेजको यथायोग्य प्राप्त करते हैं। यह नियम है कि समान समानको आकर्षित करता है और इसी नियमके अनुसार बेतारके तारका और दूरके शब्दका सुनना सम्भव हो गया। इसी समानाकर्षणके कारण इस तेजकी प्राप्ति होती है। प्रातःकाल जनसमुदाय किसी विशेष कार्यमें नियुक्त न होकर प्रायः स्थिरभावमें रहता है, जिससे जन-समुदायकी भावनाके द्वारा जो एक दूसरेके मनमें विक्षेपभाव आता है, वह उस ब्राह्ममुहूर्तमें न रहनेके कारण मनकी स्थिरतामें विशेष बाधा नहीं होती।

अनेक लोग निरन्तर भजन-स्मरण करते हैं किन्तु दीर्घकालतक करनेपर भी अपनेमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं पाते, इस कारण उनमेंसे बहुतोंको भजन-स्मरणके प्रभावमें अविश्वास हो

जाता है और वे उसे छोड़ देते हैं। सकाम भजन-स्मरण उत्तम पक्ष तो नहीं है किन्तु सकाम अथवा निष्काम दोनोंका परिणाम कर्मकी कुशलताके अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। निष्काम साधकमें भी शान्ति आती है, श्रद्धा-विश्वास बढ़ता है और यह बोध होता है कि वह जो कुछ क्षुद्र और तुच्छ सेवा करता है, वह स्वीकृत है। इसका प्रमाण किसी-न-किसी रूपमें उसे अवश्य मिल जाता है। किन्तु यह परमावश्यक है कि निष्काम साधकको भी कर्मकी कुशलताकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये, नहीं तो अकुशलताके कारण विलम्ब अवश्यम्भावी है। इस कुशलतामें उपर्युक्त ध्यान-स्मरणके उपयुक्त समयकी कुशलता भी आवश्यक है। अभिप्राय यह कि साधकको नाम-स्मरण और ध्यान आदि ब्राह्ममुहूर्तमें अवश्य करना चाहिये। उस अपूर्व और अमूल्य पवित्र सत्ययुगी समयको भगवच्चिन्तनमें न बिताकर आलस्यके कारण व्यर्थ निद्रा अथवा सांसारिक स्वार्थके कार्योंमें कदापि व्यय नहीं करना चाहिये। सबके लिये यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्ममुहूर्तका भगवच्चिन्तन स्नान करके ही किया जाय। बिना स्नानके भी सिर्फ हाथ, पैर, मुँह धोकर किया जा सकता है। किसी प्रकार भी हो, इस अमूल्य समयको जो केवल भगवच्चिन्तनके निमित्त ही नियत है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद अथवा इन्द्रियके व्यापार आदि अनात्मीय कार्योंमें कदापि नहीं लगाना चाहिये। इस समयको इन कामोंमें लगाना ऐसा ही है जैसे कोई चिन्तामणिरत्नको काँच लेकर बदल ले। यदि सायं-सन्ध्याके समय भी, जो सूर्यास्तके पूर्वसे प्रारम्भ होती है, ब्राह्म-मुहूर्तका भजन-स्मरण दोहराया जाय, तो वह सोनेमें सुगन्ध हो

जायगा । प्रायः सभी अच्छे-अच्छे विरक्त और उदासी लोग, सूर्योदयके पूर्व ही भजनमें प्रवृत्त हो जाते हैं । देखा गया है कि जिन निष्काम साधकोंने नियमसे ब्राह्ममुहूर्तमें स्मरण-ध्यान किया, उनको भगवत्कृपाका प्रमाण अवश्य मिल गया । अवश्य ही धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ।

ब्राह्ममुहूर्तके विषयमें एक बात यह भी स्मरण रहे कि ब्राह्ममुहूर्तमें सोते रहना स्वास्थ्य और परमार्थ दोनों दृष्टिसे ही बहुत हानिकर है । इसीसे शास्त्रमें सूर्योदयके समय सोते रहनेको बहुत ही निन्दनीय कहा है । सूर्योदयके समय सोनेसे कफकी अधिकता होकर तमोगुणकी वृद्धि होती है जो एक अत्यन्त हानिकर गुण है और जिसका बुरा प्रभाव चित्तपर भी पड़ता है । तमोगुणकी वृद्धिसे व्याधि भी होती है । इसके विरुद्ध सूर्योदयके समय जगे रहनेसे उस समयकी उत्तम वायु मिलती है जिसमें शक्तिप्रदायक अंश अधिक रहता है । उससे केवल स्वास्थ्यका ही सुधार नहीं होता, चित्त भी किसी अंशमें शान्त हो जाता है । ऐसे समयमें भगवच्चिन्तन करनेके प्रभावका तो कहना ही क्या है ?

तमोगुणके आलस्य-स्वभावके कारण ब्राह्ममुहूर्तमें जागनेमें—शीत-कालमें शीतके भयसे और गर्मीमें प्रातःकालकी निद्रा ठण्डकके कारण प्रिय होनेसे उस समय बिछौनेसे उठनेमें बड़ी अनिच्छा होती है किन्तु इन बातोंकी परवा न कर जो कर्तव्य-पालनके निमित्त ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने प्रातःकृत्य भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह तमोगुणको अपने वशमें कर लेता है और शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है । प्रातःस्मरणका यह भी एक बड़ा लाभ है ।



नामका दुरुपयोग



ल्याणके चतुर्थ वर्षके आषाढ़के अंकमें 'श्रीरामनामकी महिमा' शीर्षक लेख पढ़कर हर्ष-शोक दोनों हुए । लोगोंका नाममहिमामें अबतक किसी प्रकारका विश्वास है, यह जानकर हर्ष हुआ । शोक इस बातपर हुआ कि भगवन्नामनिष्ठ भक्त जिस नामस्मरणके फलस्वरूप सायुज्य मोक्षको, स्वयं श्रीभगवान्के द्वारा दिये जानेपर भी स्वीकार नहीं करते थे, उस अनुपम नामका तुच्छ सांसारिक लाभके लिये प्रयोग किया जाता है । जो अवश्य ही उसका दुरुपयोग है । नामस्मरण ही निर्हेतुकी या निष्काम भक्तिकी मुख्य साधना है । कथा है कि अर्जुनको अपनी भक्तिका अभिमान होनेपर एक दिन श्रीभगवान्

उनको अपने साथ टहलने ले गये। एक जगह जाकर देखा कि एक साधु सूखी घास खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, किन्तु उनके पास एक तलवार रक्खी हुई है।

अर्जुनने साधुसे पूछा कि जब आप हरी घासके आहारमें भी हिंसा समझकर केवल सूखी घासपर ही अवलम्बन करते हैं तब फिर इस हिंसाके शस्त्र खड्गको अपने साथ क्यों रखते हैं? साधुने उत्तर दिया कि 'मिलनेपर अर्जुन और द्रौपदीको मारनेके लिये मैंने यह तलवार अपने पास रख छोड़ी है।' अर्जुनने पूछा कि 'किस अपराधके लिये आप इन दोनोंको मारना चाहते हैं?' उत्तर मिला कि 'अर्जुनने मेरे श्रीभगवान्‌से महाभारत-युद्धमें सारथीका कार्य करवाकर उन्हें बड़ा कष्ट दिया था। और द्रौपदीने चीरहरणके समय श्रीभगवान्‌को पुकारकर उन्हें द्वारकासे दौड़कर आनेका कष्ट दिया था। इन्हीं दोनों बड़े अपराधोंका दण्ड मैं उन्हें देना चाहता हूँ।' यह सुनकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ, उनका भक्तिका सारा अभिमान जाता रहा और तब उन्होंने यह समझा कि अहैतुकी भक्ति ही यथार्थ भक्ति है। सांसारिक कष्टसे त्राण पानेकी भी प्रार्थना स्वार्थ है और वह भक्तिके विरुद्ध है। जब द्रौपदीने वनके कष्टोंसे व्याकुल होकर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरको कष्टसे छुटकारा पानेके लिये श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करनेको कहा तब धर्मराजने जो उत्तर दिया था वह परम आदर्श है—

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि ! चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥
धर्मञ्चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥

(महा० वन० ३१ । २ से ५)

हे द्रौपदी ! मैं कर्मका फल पानेकी अभिलाषासे कर्म नहीं करता, दान और यज्ञ करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर ही मैं दान और यज्ञ करता हूँ । फल हो अथवा न हो, गृहमें रहकर जो सब कर्म करना कर्तव्य है, मैं उनको यथाशक्ति करता हूँ । मैं सज्जनोंके-जैसा व्यवहार रखता हूँ और शास्त्रका अनुसरण करता हूँ, किन्तु धर्मके फलकी कामना करके धर्मका अनुष्ठान नहीं करता । धर्मका वाणिज्य करके अर्थात् उसको बेचकर उसके बदलेमें कोई फल खरीदनेके लिये जो धर्मका आचरण करते हैं, धर्मज्ञलोग उनकी गणना नीचोंमें करते हैं ।

जब श्रीभगवान् प्रसन्न होकर किसीको अपनाना चाहते हैं तो उसकी आन्तरिक शुद्धिके लिये दुःख भेजते हैं । जो दुःखको प्रसन्नतासे सहन करता है, कष्ट आनेपर भी, और अधर्माचरणद्वारा कष्टसे त्राण पानेका प्रलोभन मिलनेपर भी जो धर्मका त्याग नहीं करता, एवं त्राणके लिये कभी प्रार्थना नहीं करता, वह निष्काम और निःस्वार्थ होनेके कारण आभ्यन्तरिक पवित्रता प्राप्तकर

ईश्वरोन्मुख हो जाता है और परम दुर्लभ भक्तिको प्राप्त करता है। प्रसन्नतासे कष्ट सहन किये बिना पवित्रता और यथार्थ ईश्वरोन्मुखताके भावकी प्राप्ति नहीं होती। महात्मा कबीरने ठीक कहा है—

सुखके माथे सिल पड़े (जो) नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी (जो) पल पल नाम रटाय॥

सुखमें भगवद्विस्मरण प्रायः अवश्य होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं कि 'मैं अपने भक्तोंको निर्धन और दरिद्र बना देता हूँ, जिससे आसक्ति नष्ट होकर उनको वैराग्यकी प्राप्ति हो जाती है।'

सत्पुरुषोंकी जीवन-घटनाका अनुशीलन करनेसे भी यही सिद्धान्त प्रकट होता है। मातासहित पाण्डवोंका पूर्वावस्थामें घरसे प्रवासित रहना और भिक्षापर जीवन-निर्वाह करना, उसके बाद वनवास और अज्ञातवासका कष्ट सहना, अन्तमें युद्धमें विजय पानेपर भी आन्तरिक शान्तिको न पाना आदि कष्ट उन लोगोंको परम हितके लिये ही दिये गये थे, जिनको उन्होंने धैर्यसे सहा था। स्वयं श्रीभगवान् रामचन्द्रजीका वनवासका कष्ट सहर्ष स्वीकार करना और श्रीसीताजीका वनवास, लंकावास और अन्तमें ऋषि-आश्रममें प्रवास आदि बाह्य कष्टोंकी लीला इसीलिये दिखलायी गयी थी कि संसारके लोग सहर्ष कष्ट सहन करें जिसका परिणाम परम मधुर होता है। परमपावन श्रीरामचरित्र मनुष्यके अनुकरण करनेके लिये ही किया गया है। श्रीभगवान्‌ने वनवासके समय जिस आनन्दका उपभोग किया जिसके हार्दिक स्मरणसे ही लोग

अबतक पवित्र होते और शान्ति लाभ करते हैं, वह आनन्द राज्य-शासनके भावसे सम्भव नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने जो बाल्यावस्थामें अपनेको माता-पिताके राज्यगृहसे प्रवासितकर व्रजमें गोप-वंशके परिवारमें रहकर गायें चराईं, वह लीला भी इसीलिये की गयी। उस बाललीलाद्वारा यथार्थ भगवत्प्रेमका जाज्वल्यमान रूप संसारके हितके लिये, कलिके लोगोंके हितके लिये प्रकट हुआ। उस मनोहर व्रजलीलासे करोड़ोंको शान्ति मिली है और भविष्यत्में मिलेगी। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने भी संन्यास-व्रत धारणकर अनेक प्रकारके कष्ट-सहनद्वारा श्रीभगवन्नामका प्रचार कर जगत्का परम मंगल किया। भक्त श्रीवासके गृहमें कीर्तन हो रहा था, श्रीमहाप्रभु कीर्तनमें नाच रहे थे, श्रीवासके पुत्रका शरीरान्त हो गया, परन्तु उन्होंने या उनके परिवारमेंसे किसीने भी कीर्तनमें बाधा उपस्थित होनेकी शंकासे न तो मृत्यु-समाचार ही प्रकट किया और न तनिक-सा शोक ही प्रकाशित किया। श्रीवास पूर्ववत् कीर्तनानन्दमें निमग्न रहे। सिख-सम्प्रदायके गुरुओंने भी सहर्ष अनेक कष्ट झेलकर श्रीभगवान्की महिमाको प्रकाशित किया। नामरूपात्मक प्राकृतिक भावोंसे तादात्म्य रखनेपर ही सांसारिक और शारीरिक कष्टका बोध होता है। स्मरण-भजनके प्रभावसे जो पुरुष आत्मामें स्थित होकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है उसको बाह्य कष्ट तो कष्ट ही नहीं जान पड़ते। वह सारे कष्टोंको सहर्ष सहन करता है। वह किसी भी हालतमें उद्विग्न नहीं होता। प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहनेसे उसकी आभ्यन्तरिक शक्तिका विकास होता है और उसे समत्वकी

प्राप्ति होती है। ज्ञान-भक्तिके प्रभावसे यदि कष्टके समय चित्त आभ्यन्तरमें आत्मस्थ और ईश्वरोन्मुख हो जाय तो अन्तरमें कष्टका बोध बिल्कुल नहीं होगा। इस प्रकार वह भक्त, भक्तिके बलसे बाह्य दृष्टिमें कष्ट भोगता हुआ भी विचलित और दुःखित न होकर प्रसन्न ही रहता है। गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है। **'समदुःखसुखः क्षमी' 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संग-विवर्जितः'** अर्थात् भक्त दुःख-सुख दोनोंमें समान रहता है, क्षमा करता है और शीत, उष्ण, सुख-दुःखमें असंग होनेके कारण समान रहता है।

भक्त अपने सञ्चित कर्मको भी इसी जन्ममें भोगकर पूरा कर देता है, जिससे इस मार्गमें पदार्पण करनेपर जो सञ्चित दुष्ट कर्मोंका फल कई जन्मोंके बाद आता, वह आने लगता है और यों वह थोड़े ही काल और थोड़ी मात्रामें ही उनका भोगकर उऋण हो जाता है। अतएव यथार्थ भक्त सांसारिक लोगोंकी अपेक्षा अधिक कष्ट भोगते हैं, जो इस मार्गकी उत्कृष्टता है। अनेक धार्मिक लोग भी प्रायः वृद्धावस्थामें ऐसा संकल्प करते हैं कि—

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसञ्चिताः।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(अनुस्मृति ६७)

'पहलेके रोके हुए रोग मेरे शरीरसे प्रविष्टकर भुगत जायँ, क्योंकि मैं श्रीभगवत्-पदमें ऋणरहित होकर ही जाना चाहता हूँ।'

यदि कोई जापक यह प्रार्थना करे कि जपके फलस्वरूप मेरा दुःख मिट जाय तो जपके प्रभावसे दुःख यथासम्भव अवश्य मिटेगा या कम होगा किन्तु यह जपका दुरुपयोग है। ऐसा करनेसे उसको नामद्वारा केवल सांसारिक लाभ ही प्राप्त होगा। भक्ति और श्रीभगवत्प्राप्ति नहीं मिलेगी। यह चिन्तामणि देकर बदलेमें काँच लेनेके समान ही है।

कभी-कभी पूर्वके कर्मका दुष्ट फल दुःखस्वरूपमें आनेपर यदि धैर्यसे भोग लिया जाता है तो वह थोड़ेमें ही समाप्त हो जाता है। किन्तु प्रबल अनुष्ठान आदि दैवी बलसे उसे रोकनेपर वह उस समय तो रुक जा सकता है किन्तु कालान्तरमें बहुत बड़े वेगसे आता है और दीर्घकालव्यापी होता है। उपर्युक्त अनुस्मृतिके वाक्यमें जो रोगके वञ्चित करनेका उल्लेख है वह ऐसी ही अवस्थाका सूचक है। श्रीमद्भगवद्गीतामें आर्त्त (दुःखी) होकर और अर्थकी कामनासे भगवान्‌का भजन करनेवालोंको भक्त माना है किन्तु वह प्रारम्भिक अवस्था है। भक्तिके साधकमें तो सब प्रकारका काम भगवत्-सेवारूपी प्रेममें परिवर्तित हो जाता है। लिखा है— **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'**। व्रजकी श्रीगोपियोंका पवित्र प्रेम ही 'काम' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

मोतिहारी जिलेमें एक कम पढ़े-लिखे सच्चरित्र गृहस्थ थे। उनका नामसे प्रेम हो गया और वे अभ्यास करने लगे। प्रारम्भिक अवस्थामें उनके चित्तमें भक्तिकी पुष्टिके लिये जो-जो शुद्ध पारमार्थिक आकांक्षाएँ उत्पन्न हुईं, वे सब पूरी हो गयीं।

गीता और रामायणके पाठकी उत्कट अभिलाषा होनेके कारण उक्त पाठ उनको स्वप्नमें पढ़ाया गया और उनके मुखस्थ भी हो गया। कालान्तरमें उनका अर्थ भी भासित हो गया। तदनन्तर वे प्रसिद्ध हो गये और लोगोंके विशेष आग्रह तथा प्रार्थनासे सांसारिक लाभके लिये वचन देने लगे। उनके मुखसे निकले हुए वाक्य सफल होते थे। लोगोंको पुत्र, धन, नौकरी आदि मिलने लगे। रोगनिवृत्ति, विवादमें जय आदि होने लगी। परिणाम यह हुआ कि उनके आभ्यन्तरिक, पारमार्थिक और आध्यात्मिक अनुभवमें कमी आ गयी। शान्ति जाती रही और अन्तमें वाक्य भी फलीभूत होना बन्द हो गया। जब उन्होंने भजनकी शक्तिको सांसारिक कार्यमें प्रयोग करनेकी अपनी बड़ी भूलको समझा, तबसे उन्होंने वाक्यदान करना एकदम बन्द कर दिया। फिर वे श्रीअयोध्यामें सरयूकी रेतीकी ओर वास करने लगे। तदनन्तर उनकी आभ्यन्तरिक ईश्वरोन्मुखी मनोवृत्तिमें बहुत कुछ उन्नति हुई। श्रीअयोध्यामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे मुझसे यह सब बातें बतलाकर कहा था कि 'सकाम प्रयोगके फलरूप अब तो मैं एकदम गिरी दशामें हूँ।' यद्यपि वे निरक्षर थे किन्तु उनके मुखसे भक्ति और तत्त्वके सिद्धान्तका प्रतिपादन सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका नाम श्रीचतुरीबाबा था। अब वे परमधामको चले गये हैं।

अयोध्याके पास ही एक ग्राममें एक ब्राह्मण महाशयसे उनके घरपर मिलना हुआ था। उनके साथ हमलोग उनके गुरुके घर

गये जो एक पण्डित भक्त थे। ये ब्राह्मण भी नामके अभ्यासके बाद लोगोंको वाक्यदान देने लगे थे और इनके वाक्योंसे भी लोगोंकी रोगनिवृत्ति आदि सांसारिक लाभ होने लगे। उनके गुरु मना करते थे कि भजनका ऐसा दुरुपयोग मत करो, किन्तु उन्होंने उस समय गुरुवाक्य नहीं माना। परिणाम यह हुआ कि उनकी वाक्यशक्ति नष्ट हो गयी और आन्तरिक, पारमार्थिक भाव और शान्ति जाती रही। मैंने गुरु और शिष्य दोनोंके मुखसे यह बातें सुनीं।

उपर्युक्त कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि साधक भक्त किसीका सांसारिक उपकार न करे अथवा अपने ऊपर कोई कष्ट आनेपर उससे मुक्त होनेकी कोई चेष्टा ही न करे। यह दोनों कार्य आवश्यक हैं। इनमें परोपकार तो भक्तिकी मुख्य साधना होनेके कारण अवश्य कर्तव्य है और अपने कष्टका निवारण करना अथवा शरीर आदिकी रक्षा भी अवश्य करनी चाहिये। परन्तु इन लौकिक कार्योंकी सिद्धिके लिये स्मरण-भजनकी शक्तिका प्रयोग न कर अपने शरीर, वचन, मन, बुद्धि, धन, परिश्रम, उपदेश, ज्ञान, हितेच्छा आदिसे जहाँतक हो सके उपयुक्त यत्न करना उचित है। आवश्यक होनेपर निःस्वार्थ भावसे प्रार्थना भी की जा सकती है, किन्तु उपासनाके प्रधान साधन भजनको तो केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त ही करना चाहिये। भजन तो उन्हींमें अर्पण होता है जिसको श्रीभगवान् संसारके कल्याणके लिये व्यवहारमें लाते हैं। ऐसे भजनका सांसारिक लाभके लिये प्रयोग

करना अनुचित है। साधकके लिये यह परमावश्यक है कि वह दूसरेके उपकारको भगवत्-सेवा समझकर और अपनी यथार्थ आवश्यकताकी पूर्तिको भी कर्तव्य और भगवत्कार्य मानकर उनके लिये निःस्वार्थ और निरहङ्कार भावसे उचित उपायका अवलम्बन करे किन्तु उसके परिणाम या फलमें तनिक भी आसक्ति न रक्खे। उसका कर्तव्य कर्मके करने तक है। फलकी चाह तो कर्तव्यसे बाहर और बाधक है। गीताका वचन है **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**। कर्म करनेका ही अधिकार है, फलकी चाह कदापि नहीं करनी चाहिये। फलकी आकांक्षा रखनेसे कर्म स्वार्थमूलक हो जाता है, वह ईश्वरार्पण नहीं हो सकता। साधकको न तो कर्मकी सफलता होनेपर प्रसन्न होना चाहिये और न विफल होनेपर शोक ही करना चाहिये। यह भाव नाम-स्मरण आदि भजनसे भगवत्कृपाद्वारा अहङ्कारके नाश होनेपर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसा साधक दुःखोंके आनेपर उद्विग्न न होकर उनको ईश्वरका प्रेषित प्रसाद समझ सहर्ष सहन करता है। ऐसी स्थिति होनेपर ही साधक आत्मस्थ होकर भगवत्प्राप्ति करता है।



नामकी परम उपयोगिता

'कल्याण' वर्ष ६ के माघ महीनेके अङ्कमें निम्नलिखित एक कहानी प्रकाशित हुई है।

कलियुगका जमाना था। भगत कबीरदासका जन्म एक कोरीके घरमें हुआ था। जब आपने भक्तिकी परीक्षा पास कर ली तब कमाल नामक एक भगतको अपना 'चेला' बनाकर स्वयं काशीजीमें निवास करने लगे।

एक दिनकी बात है। कमाल खड़े थे गङ्गामहामाईके तटपर और सोच रहे थे कि 'रामाइन' यह क्यों कहती है—

ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि।

उस समय कमालकी उम्र बारह वर्षकी थी।

(२)

तबतक बीकानेरका एक श्वेतकुष्ठी सेठ, एक सौ एक ब्राह्मणोंके साथ—रामनामकी दुहाई देता हुआ वहाँ आ पहुँचा। कमालने उससे इसका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि सेठजी अपने घरपर स्त्री-सहित एक पुत्र छोड़कर—उनको साढ़े तीन लाख रुपया नकद देकर आप गङ्गाजीमें 'जीवित समाधि' लेने आये हैं! कारण यह था कि सेठजीने अपना कितना ही इलाज कराया लेकिन 'सफ़ेद कोढ़' से छुटकारा न हुआ। मनमें अपने तनपर घृणा छा गयी थी! इसलिये आप घरका इन्तज़ाम करके, एक रुपया रोज़ानापर एक सौ एक ब्राह्मण साथ ले 'राम राम' कहते-कहते पैदल काशीजी आये और श्रीगङ्गाजीमें समाधि लेना चाहते थे।

कमालने कहा—अगर मैं तुम्हारा कोढ़ दूर कर दूँ?

सेठ—तो फिर क्या कहना! अन्धेको क्या चाहिये—दो आँखें! अगर आप मुझे अच्छा कर दें तो मैं एक लाख रुपये आपकी आज्ञानुसार खर्च कर सकता हूँ।

कमालने मुस्कराकर कहा—रुपयेकी खब्त अपने पास रक्खो। मैं रामनामकी महिमा प्रकट करूँगा। जिस रामके नाम-को लेकर तुम इतने आदमी एक महीनेसे यात्रा कर रहे हो, उसी रामनाममें कुछ जान है या वह बिल्कुल मुर्दा चीज़ है—यही मैं तुमको दिखाना चाहता हूँ। रामके नामकी क़ीमत हर एक साधकके लिये अलग-अलग है। समझे?

सेठ—आप जो आज्ञा करें, मैं वही करूँ।

कमाल—इन सब लोगोंको चुप कराकर, किनारेपर बैठा दो तुम कपड़े उतार, गङ्गाजीमें कमरतक घुसो। इसके बाद ना पकड़कर गोता लगाओ। जब तलीमें पहुँचो, तब तबीयतके सा करुणा और प्रेमके साथ, एक ही बार 'राम' कहना। बस अ हो जाओगे। नहीं तो, मैं भी नास्तिक-पार्टीमें मिल जाऊँगा!

सेठने वैसा ही किया, लेकिन रोग अच्छा न हुआ।

कमाल बोले—तुमने मन लगाकर नाम नहीं लिया। क और प्रेमको हृदयमें नहीं ला सके। अबकी बार मजबूरीके सा 'राम' कहना। समझे या नहीं?

सेठने वैसा ही किया लेकिन कुछ फल न हुआ।

कमालने तीसरी बार फिर वही आर्डर दिया। ज्यों ही से गोता लगाया, त्यों ही कमालने उसके सिरपर अपना लोहेका ड जमा दिया! खूनसे गङ्गाजल लाल होने लगा। चोट खाकर उसने गोता लगाया और तलीमें जाकर अपने हृदयमें करुणा अ प्रेमको उपस्थित पाया। सेठने दिलकी गाँठ खोलकर कहा—'राम' रोग दूर हो गया। सबने देखा—सेठजी अच्छे हो गये!

कमालके हुक्मसे सेठजी अपने दलसमेत उसी दिन बीकाने के लिये रवाना हो गये।

कमालने आकर कबीर साहबको सेठकी सारी कहानी सुना और अन्तमें ज़रा गर्मीके साथ यह कहा कि मैंने आपकी दया केवल तीन बारके रामनामसे एक कोढ़ीको अच्छा कर दिया।

कबीर साहब थे पूरे भगत। कमालके रंग-ढंगपर खफ़ा हो उठे, बोले—मेरी चिट्ठी लेकर अभी तुलसीदासके पास जाओ। उन दिनों भगत तुलसीदासजी भी राजघाटपर ठहरे थे। कमालने जाकर उनके हाथमें एक कागज़ दिया। तुलसीदासजीने उसे खोला तो केवल एक दोहा लिखा पाया।

डूबा वंस कबीरका, उपजे पूत कमाल।
तीन रामके नामसे, कोढ़ी किया बहाल॥

तुलसीदासजीके पूछनेपर कमालने सेठका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तुलसीदासजीने समझ लिया कि कबीरजी चाहते हैं कि मेरे द्वारा कमालका घमंड चूर हो और रामके नामकी ज्यादा कीमत प्रकट हो।

तुलसीदासजीने एक चेलेको हुक्म दिया कि शहरमें मुनादी करा दो कि काशीमें जितने कोढ़ी हों वे सब तुलसीदासकी कुटीपर आ जावें। सबके कोढ़ दूर किये जायँगे। शामके चार बजेतक पाँच सौ कोढ़ी आकर बैठ गये। तब तुलसीदासजीने एक तुलसीपत्र मँगाया। उसपर एक 'राम' नाम लिखा और उसे पिसवाकर एक घड़ा गङ्गाजलमें घोल दिया। इसके बाद चेलेको हुक्म दिया कि इसको सब कोढ़ियोंपर ज़रा-ज़रा छिड़क दो। वैसा ही हुआ। जिस आदमीके वदनपर बूँद पड़ती, बस, छूमन्तरकी तरह उसका कोढ़ दूर हो जाता! सब कोढ़ी अच्छे होकर जय-जयकार करने लगे। कमालको बड़ा आश्चर्य हुआ। चुपचाप कबीर साहबके पास आकर उसने सब हाल कह सुनाया। तुलसीदासजी-

की करतूतपर भी कबीर साहब सन्तुष्ट न हुए। बोले—मेरी चिट्ठी लेकर सूरदासके पास जाओ।

उन दिनों भगत सूरदासजी गङ्गाजीके उस पार रेतीमें पड़े रहते थे। गर्मीके दिन थे, जल कम था। कमालने जाकर उनके हाथपर कागज़ रख दिया। सूरदासने कहा—आओ कमाल! तुम्हारे गुरु कबीरजी अच्छे हैं। क्या लिखा है—पढ़कर सुनाओ इसे, कमालने पढ़ा—

तुलसीजीने पाँच सौ, कोढ़ी किये बहाल।
कितनी कम कीमत हुई, एक नामका लाल ?॥

सूरदासजीके पूछनेपर कमालने सेठकी कहानी सुनायी और फिर तुलसीदासजीका किस्सा कहा। सूरदास बोले—'गङ्गाजीमें एक मुर्दा बहा जाता है उसे पकड़ लाओ!' कमालने खड़े होकर देखा तो उसे सचमुच मुर्दा बहता दिखायी दिया। कमालने सोचा—यह हैं तो सूरदास और देखते हैं मुझसे भी ज़्यादा! कमाल कूद पड़े गङ्गाजीमें और तुरन्त उस मुर्देको सूरदासजीके पास खींच लाये। सूरदासजीने मुर्देका एक कान पकड़ा और अपना मुख उसके कानके पास ले जाकर ज्यों ही 'र' कहा, त्यों ही वह मुर्दा बिजलीकी तरह लपककर बैठ गया! कमालके होश उड़ गये। 'राम' शब्दके तृतीय खण्डकी यह करामात कि उसके एक अक्षरके सुननेमात्रसे मुर्दा भी जी गया। वह आदमी उठकर अपने घर गया। कमालने आकर कबीर साहबको सारा हाल कह सुनाया। अन्तमें कबीर साहबने कहा—'रामका नाम मिट्टीकी तरह अमूल्य है। और रामका नाम पारसकी तरह अमूल्य है। जो जैसा

साधक है उसके लिये उतना ही प्रभाव 'राम-नाम' में है । लोगों-का निश्चय है कि कबीरसाहब अमर हैं ।

× × × × ×

उपर्युक्त कहानी अवश्य ही उत्तम और लाभप्रद है, पर राम-नामके माहात्म्यकी कहानी वहीं समाप्त नहीं हुई, कुछ अंश उसका और है और वह यों है कि सूरदासजीके यहाँसे कमालने लौटकर वहाँकी घटना कबीरजीको कह सुनायी । श्रीकबीरदासजी बड़े भक्त थे, उन्होंने कमालसे कहा—

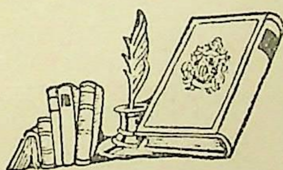
तीन नामसे कोढ़को, दियो कमाल मिटाय ।
एक नामसे पाँच सौ, तुलसी कोढ़ छुड़ाय ॥
एक हि आखर सूरने, मुर्दा दियो जिवाय ।
यह सब ही है हीनता, परम नामकी हाय ! ॥

अब नामके इस तिरस्कारपर विचार करना चाहिये । अपनी सांसारिक असुविधाओंको मिटानेके लिये या लौकिक लाभकी कामनासे नामका प्रयोग करना हीरेको काँचसे बदलना है । इसी प्रकार नामके अमित प्रभावको दूसरोंकी शारीरिक अथवा आर्थिक व्याधि निवृत्त करनेमें लगाना भी सोनेके मोल मामूली धातु खरीदना ही है । सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति और किसी मनचाही वस्तुकी प्राप्ति तो आवश्यक लौकिक पुरुषार्थद्वारा भी हो सकती है । इसके लिये उस परम अमूल्य धन श्रीहरिनामका व्यवहार करना उसका दुरुपयोग करना ही है । नामको सांसारिक लाभकी सिद्धिमें उपयोग करनेसे उसके द्वारा पारमार्थिक लाभ या उपकार बहुत कम होता है या कहीं-कहीं तो बिल्कुल ही नहीं होता । क्योंकि ऐसा करना उसका दुरुपयोग है ।

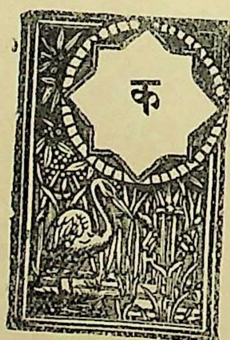
दूसरे कोई भी सांसारिक लाभ यथार्थ सुखके देनेवाले नहीं हैं। किसी एक व्याधि या दुःखके दूर होनेपर भी संसारके सम्पूर्ण दुःख दूर नहीं हो सकते। दुःख फिर लौट आते हैं, बीमारी फिर आ घेरती है। पहले सुखरूप दिखायी पड़नेवाले सांसारिक लाभ भी अन्तमें दुःखरूप हो जाते हैं। अतएव नामका यथार्थ मूल्य और उसका सार्थक प्रयोग तो अन्तरात्माकी आध्यात्मिक व्याधियों और अभावोंकी निवृत्तिमें लगाना ही है जिससे सब दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

भक्त और भगवान्‌की परम कृपासे ही नाममें प्रवृत्ति होती है और उसके निरन्तर स्मरण करनेपर जब अन्तःकरणके मल, कुवासना और अज्ञान दूर हो जाते हैं और भगवान्‌की शरणागति प्राप्त होती है तब सारे सांसारिक दुःखोंका वस्तुतः आत्यन्तिक लोप हो जाता है। इस अवस्थामें यदि कोई कठिन दुष्ट प्रारब्धका फल आता है तो वह बहुत कम मात्रामें होता है और उससे अन्तरात्मामें कोई कष्ट नहीं होता। चित्त उसी प्रकार शान्त और प्रफुल्लित रहता है। अतः भगवान्‌के भजन, कीर्तन, स्मरण, स्तुति, प्रार्थना, अर्चन, ध्यान आदिका प्रयोग लोगोंके आभ्यन्तरिक मल, कुवासना, विकार-रूप कठिन भव-रोगको हटानेमें ही करना चाहिये। जिससे उनमें ज्ञान और भक्तिका सञ्चार हो और वे ईश्वरके सम्मुख हो जायँ। इसीका परिणाम स्थायी होगा। इसीसे हृदयमें अटल शान्ति, सन्तोष एवं पारमार्थिक लाभ होगा। यही श्रीभगवान्‌का परम प्रिय कार्य है। इसी परमोत्तम भगवत्सेवामें नामका प्रयोग होना चाहिये।

कलियुगमें श्रीचैतन्य महाप्रभु इस सेवामें सबके मुखिया हुए। वे अपने शिष्योंको लोगोंमें नामका उपदेश करने भेजा करते थे, जिससे लोगोंका बड़ा ही कल्याण हुआ। उनकी यह आज्ञा थी कि सबसे बड़े पापीके पास सबसे पहले जाओ और उसको नामका उपदेश दो। इसी नामके प्रभावसे उन्होंने जगाई-मधाईका उद्धार किया। वे स्वयं भी कीर्तन करके नामका प्रचार करते थे। उनके कीर्तनको सुननेवाले प्रेममें मग्न होकर कीर्तन करने लगते थे। यही नहीं, उनके दर्शन और स्पर्शसे भी लोगोंमें मस्ती चढ़ जाती थी और वे कीर्तनमें प्रवृत्त हो जाते थे।



गुरु-अन्वेषण



लकत्तेमें एक विद्वान् बंगाली ब्राह्मण हाईकोर्ट के वकील थे। उन्होंने वकालत छोड़कर आजन्म ब्रह्मचारी रहकर केवल भगवत्-सेवामें अपने जीवनको व्यतीत करनेका निश्चय किया। उस समयतक उन्होंने किसीको अपना गुरु नहीं बनाया था। उनके इस सत्संकल्पको सुनकर उनके पास कई संन्यासी आये और उनसे कहा कि 'अब तुम्हारा समय हो गया है, हमसे दीक्षा लो।' इसके उत्तरमें वह कहते थे कि 'मुझमें तो यह सामर्थ्य नहीं कि मैं योग्य गुरुकी पहचानकर उनसे दीक्षा लूँ, अतएव मैं स्वयं

किसीको गुरु न चुनकर इस महान् कार्यको ईश्वरपर ही छोड़ता हूँ, वे ही जिसके लिये अनुमति देंगे उन्हें गुरु बनाऊँगा।' इस प्रकार वह ईश्वरपर ही गुरु-प्राप्तिके लिये निर्भर हो गये। परिणाम यह हुआ कि एक दिन एक बड़े सद्गुरुने स्वयं आह्वान करके उनको दीक्षा दी। वह सद्गुरु किसीको आह्वानकर दीक्षा नहीं देते थे परन्तु इनके विषयमें उन्होंने यह असाधारण कार्य किया। जिस प्रकार चुम्बकके द्वारा लोहा आकर्षित होता है उसी प्रकार आह्वान आनेपर ब्रह्मचारीने स्वयं आकर्षित हो उनके पास जाकर दीक्षा ली और इससे उनको शान्ति मिली।

आजकल गुरुवरण एक बड़ी ही विषम समस्या है क्योंकि ऐसे यथार्थ गुरु बहुत कम मिलते हैं जो शिष्यके अविद्यान्धकार-को हर लें। ऐसे गुरुओंकी ही आजकल अधिकता है जो या तो शिष्यके द्रव्यको हरण करते हैं अथवा दूकानदारीके समान अपने महत्त्वकी ख्याति ही जिनका प्रधान उद्देश्य होता है, इसके लिये वे बहुतेरी अयोग्य नीतिका व्यवहार भी करते हैं। इस प्रकारके गुरुओंके फंदेमें बेचारे भोले-भाले शिष्य सहज ही फँस जाते हैं। उनमेंसे कितनोंका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। कितने ऐसी साधनामें लग जाते हैं जिनसे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है अथवा जिनसे वह अदृश्य जगत्के मायिक दृश्यों और चमत्कारों-को देखकर तथा क्षुद्र शक्तियोंको प्राप्तकर अधिकाधिक मायाके जालमें फँस जाते हैं और इस प्रकार मुक्तिके बदले अधिकाधिक बन्धनमें ही उलझ जाते हैं। आजकलके कलियुगी नामधारी

गुरुओंका प्रायः यही कथन होता है कि 'केवल मैं ही एक सत्य पन्थ और सत्य सिद्धान्तको जानता हूँ, अन्य सब पन्थ अधूरे अथवा नकलमात्र हैं। जो कोई मेरा शिष्य होगा, केवल वही लाभ उठा सकता है। बिना शिष्य हुए और गुरु माने गुह्य उपदेश नहीं दिया जाता।' इत्यादि।

अच्छे गुरु सदा लोकहितमें तत्पर रहते हैं और जिज्ञासुओं-की योग्यताके अनुसार उन्हें उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। विवेकचूडामणि (श्लोक ३९-४०) में सद्गुरुका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥
अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥

'शान्त प्रकृतिके महात्मा वसन्त-ऋतुके समान केवल संसार-का हित करते रहते हैं, वे बिना स्वार्थके अन्य लोगोंको इस भयंकर संसारसागरसे तारते हुए स्वयं भी तर जाते हैं। दूसरोंके कष्टका नाश करनेमें तत्पर रहना ही महात्माओंका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्यकी कर्कश प्रभासे अभितप्त पृथ्वीको स्वयं ही शान्ति प्रदान करता है।'

साधकोंको गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है। प्रारम्भिक साधनाके हो जानेपर अथवा प्रारम्भिक साधनाका यथार्थ रूप जाननेके लिये और उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्त होनेके लिये गुरुका होना अत्यन्त आवश्यक है। जो सच्चे श्रद्धालु साधक हैं और भगवान्‌का भरोसा करते हैं उनको भगवान् किसी-न-किसी प्रकार सद्‌गुरुसे सम्बन्ध करा ही देते हैं।

सद्‌गुरुकी प्राप्तिका एक उपाय है। एकादशीके दिन पूर्ण निराहार उपवास करे और सन्ध्याको स्नान करके जप-ध्यानादि करनेके बाद सोनेके समय लिपी हुई जमीनपर जलसे पवित्र की हुई कुशकी चटाईपर सोवे और नींद आनेके पूर्व गीताके निम्न श्लोकको मन-ही-मन रटता रहे और रटन करते समय इसके अर्थ-की भी भावना करता रहे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(२।७)

अर्जुन श्रीभगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं ममताजनित शोक-मोहसे अभिभूत और धर्माधर्मके विषयमें अनिश्चित हूँ। मैं अत्यन्त दीन और ज्ञानविहीन आपके शरणागत हूँ, आपका शिष्य हूँ। जिसमें मेरा कल्याण हो वह उपाय मुझको आप निश्चयपूर्वक कहिये।'

इस विषयमें यह भी याद रखना चाहिये कि यह प्रार्थ उसीके लिये सार्थक हो सकती है जो अर्जुनकी भाँति कल्याण मार्गका जिज्ञासु होकर उसके न मिलनेसे व्याकुल हुआ हो औ परम विनीत भावसे श्रीभगवान्‌को परम गुरु मानकर उनसे प्रार्थन करता हो कि वे कृपाकर उसके लिये कल्याणका ठीक मा बतलावें। इस भावसे भावित साधक यदि कातर होकर इ श्लोकके जपद्वारा श्रीभगवान्‌से अपने पारमार्थिक कल्याणके मार्ग जाननेकी प्रार्थना करेगा, तो श्रीभगवान् स्वप्नमें कभी-न-कभी उसव उचित उत्तर अवश्य प्रदान करेंगे। यदि एक एकादशीको स्वप्न कोई उत्तर न मिले तो अगली एकादशियोंमें ऐसा ही व्रत करन चाहिये। यह एक महात्माका कथन है और एक साधकव (जिज्ञासुको) कुछ दिन हुए स्वप्नमें उचित उत्तर भी मिला है प्रायः उत्तर स्पष्ट न होकर सांकेतिक होता है जिसके भावव समझनेसे वह स्पष्ट हो जाता है।

हाँ, यह स्मरण रखना चाहिये कि सांसारिक कामनाव पूर्तिके लिये इस श्लोकके जपद्वारा प्रार्थना करनेसे जापकको प्राय लाभ नहीं होता।



यथार्थ सद्गुरु और उनकी प्राप्तिके उपाय

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥



'कल्याण' वर्ष ४ के ७ वें अंकमें 'सद्गुरु' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसी विषयपर यह लेख भी लिखा जा रहा है, क्योंकि यह विषय परम रहस्य है । महिम्नःस्तोत्रमें लिखा है **'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्'** । शास्त्रका यह कथन है कि गुरुके आश्रय और उनकी सहायता बिना भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते । तीनों कालके लिये यह अटल नियम है । इस गुरुसे यहाँ उन सद्गुरुका उल्लेख है जो स्वयं भगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं और अब श्रीभगवान्‌के कार्यकी भाँति दूसरोंको भी

भगवत्-प्राप्ति करानेके कार्यमें प्रवृत्त हैं । शास्त्रोंमें ऐसे ही सद्गुरुकी महिमाका वर्णन है । इस सृष्टिमें परब्रह्मकी जो पाँच कला विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश हैं, इनमेंसे जिस कलासे जिस जीवात्माकी सृष्टि हुई है उसका वही इष्ट है और उसे उसीकी उपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके नियत सद्गुरु भी हैं, जिनके आश्रय और सहायतासे उसे अपने इष्टकी प्राप्ति होगी । इसीलिये प्रत्येक हिन्दूके, चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, भिन्न-भिन्न नियत गोत्र-ऋषि हैं, जिनका नाम यज्ञ या अन्य धर्म-कार्यादिके समय लेना पड़ता है, ये गोत्र-ऋषि ही प्रत्येक हिन्दूके जन्मके आदिकारण हैं । गोत्र-ऋषि ही यथार्थ सद्गुरु हैं और इनके शिष्य-परम्परामें जिन्होंने जीवन्मुक्त होकर भगवत्-प्राप्ति की है वे भी उन्हींके समान हैं और वे भी भगवत्-प्राप्ति करानेके महान् कार्यमें लगे रहते हैं ।

विद्यागुरु, दीक्षागुरु, धर्मोपदेशक गुरु आदि सब उपर्युक्त सद्गुरुओंके प्रतिनिधिकी भाँति उनकी प्राप्तिमें केवल सहायक हैं, बशर्तें कि ये योग्य हों । अतएव साधकका मुख्य लक्ष्य सद्गुरुकी प्राप्ति होना चाहिये, क्योंकि केवल उन्हींके द्वारा भगवत्-प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं । सद्गुरु-प्राप्ति ही परम कठिन, दुर्लभ और अलभ्य है; भगवान्की कृपासे ही होती है—**'बिनु हरि-कृपा मिलहिं नहिं संता ।'** श्रीभगवान्की प्रेरणासे ध्रुवको श्री-नारद सद्गुरु मिले, श्रीगोपियोंको श्रीदुर्वासादि मिले । इस युगमें भी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीको जब श्रीहनुमान्जी (जो सद्गुरु हैं) मिले, तभी उन्हें श्रीभगवान्की प्राप्ति हुई ।

इन सब सद्गुरुओंके नायक श्रीशिवजी हैं, इसीसे उनका नाम जगद्गुरु है, अतएव सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये जगद्गुरु श्रीशिवजीकी कृपाका होना भी आवश्यक है। इसी हेतुसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने काशीमें निवासकर शिवजीकी विशेष आराधना की, जो उनके द्वारा रचित स्तुतिके भक्तिपूरित श्लोक और भजनोंसे प्रकट हैं। इष्टकी भक्ति और उसमें प्रेम श्रीशिवजीके द्वारा ही मिलते हैं। इन सद्गुरुओंका निवास गायत्रीके तेजमें है अतएव इनकी प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम गायत्रीकी उपासना परमावश्यक है। इसी कारण शास्त्रोंमें गायत्रीकी उपासनाका सबसे पहले विधान है। क्रम यही है कि पहले गायत्री-उपासना और उसके बाद इष्टोपासना। पञ्च उपास्य देवोंमें जिस उपास्य अर्थात् श्रीविष्णु और उनके भेद श्रीनृसिंह, श्रीराम एवं श्रीकृष्ण और शिव, शक्ति, सूर्य, गणेशके प्रति स्वाभाविक ही हृदयसे प्रेमका बोध हो, उसीको अपना उपास्य मानकर किसी योग्य गुरुसे उसके मन्त्रकी दीक्षा लेनी चाहिये। दीक्षा लेनेके बाद मन्त्रका जप और हृदयमें इष्टकी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। ध्यानके लिये सुन्दर मूर्ति अथवा चित्रकी सहायता परमावश्यक है। इसके बाद श्रीशिवजीकी आराधना करनेके लिये प्रेरणा होगी और तदनन्तर श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति होगी।

ये सद्गुरु कोई सूक्ष्मदेहधारी मृत व्यक्ति नहीं हैं। स्थूल-देहधारी हैं और इसी भूलोकमें रहते हैं। ये हमलोगोंके ऋषियोंमेंसे ही हैं। कलियुगके आरम्भमें जब राजा परीक्षितको शाप हुआ,

तब उनके पास श्रीव्यास आदि अनेक ऋषिगण आये थे, जिनमें श्रीशुकदेवजीने राजाको उपदेश दिया था। ऋषिगण प्रायः अपने शरीरका कभी त्याग नहीं करते, वे संसारके कल्याणके लिये सदा कार्य करते रहते हैं। आजकल इन सद्गुरुओंका निवास अगम्य उत्तराखण्डमें है और वहीं रहकर ये सम्पूर्ण मर्त्यलोकके मनुष्योंका निरीक्षण करते हुए उनमें योग्यतानुसार सद्भावना उत्पन्नकर सबकी सहायता करते रहते हैं। इस समय जितने यथार्थमें शुभ और लोकहितकर कार्य हो रहे हैं उन सबमें वे मदद पहुँचा रहे हैं। इसीलिये विद्यारम्भके समय बालकको सर्वप्रथम '**ॐ नमः सिद्धः**' कहकर उन सद्गुरुओंको नमस्कार करना पड़ता है। श्राद्धमें भी 'महायोगी' के नामसे इन सद्गुरुओंको नमस्कारका विधान है। लिङ्गपुराणके सातवें अध्यायमें 'योगाचार्य' के नामसे इनका विस्तृत वर्णन है। वहाँ लिखा है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न सद्गुरु प्रकट होते हैं, पचाससे अधिक नामोंका भी वहाँ उल्लेख है। उक्त पुराणके चौबीसवें अध्यायमें लिखा है—

हिमवच्छिखरे रम्ये महोत्तुङ्गे महालये ॥
सिद्धक्षेत्रं महापुण्यं भविष्यति महालयम् ।
तत्रापि मम ते पुत्रा योगज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥
भविष्यन्ति महात्मानो निर्ममा निरहङ्कृताः ॥

(लिङ्ग० २४। ७७–७९)

× × × ×

कायावतार इत्येवं सिद्धक्षेत्रं च वै तदा ।
भविष्यति सुविख्यातं यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥

तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः॥
कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एव च॥
योगात्मानो महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः।

श्रीमहादेवजी ब्रह्मासे कहते हैं कि सुन्दर हिमालयके सबसे ऊँचे शिखरपर सिद्धक्षेत्र नामक पुण्यप्रद महालय होगा, वहाँ मेरे ब्रह्मवादी योगी महात्मा पुत्र होंगे जो ममता और अहंकारसे शून्य रहेंगे। जबतक पृथ्वी रहेगी, तबतक कायावतार नामक यह सिद्धक्षेत्र विख्यात रहेगा। वहाँ भी मेरे विख्यात तपस्वी-पुत्र होंगे जिनके नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य हैं।

हिमालयके कलाप-ग्राममें सिद्ध सद्गुरु-गण रहते हैं, इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८७ श्लोक ५ से ७ तथा स्कन्ध १२ अध्याय २ श्लोक ३७, ३८ एवं महाभारत मौशलपर्व अध्याय ७ के अन्तमें * है। पर इन सद्गुरुओंकी प्राप्ति तीर्थाटन, अथवा जंगल पहाड़ोंमें ढूँढ़नेसे नहीं होती। इनकी प्राप्ति इसी कारण परम सुलभ है कि ये योग्य साधकके समीप स्वयं आकर उसके अन्तरमें दर्शन देते हैं। जब अन्तर शुद्ध होता है, तभी इनके साक्षात् दर्शन होते हैं अन्यथा ये साधकके अन्तरमें सद्भावना उत्पन्नकर उसकी सहायता करते रहते हैं। इनको प्राप्त करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह यम-नियमोंमें दृढ़ होकर मन और इन्द्रियको निगृहीत, शुद्ध और शान्त करे, निःस्वार्थ-

* हिमवन्तमतिक्रम्य कलापग्रामवासिनः।
द्वारकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमभ्ययुः॥

भावसे स्वाभाविक ही परहित-कार्यमें लगा रहे, इष्टकी उपासना अहैतुक-भावसे उनकी सेवाकी भाँति करे और सदा सत्संगतिका लाभ उठाता रहे। सबसे प्रथम इनके दर्शन स्वप्नमें होते हैं और उपदेश भी मिलता है, परन्तु यथार्थ दर्शन वह है, जो हृदयमें हो और उसमें भी परम यथार्थ और शान्तिप्रद वह है जब कि इनके परम दुर्लभ आनन्दमय तेजःपुञ्जका प्रत्यक्ष अनुभव हो। इसके बाद साधकको उसके हृदयमें जगद्गुरु श्रीशिवजीके और अपने इष्टके भी दर्शन होते हैं और उनके परम दिव्य, परम रसमय और परम शान्त तेजःपुञ्जका भी अनुभव होता है।

अवश्य ही आजकल गुरुओंकी भरमार है। जो बात-की-बातमें श्रीभगवान्के दर्शन और वार्त्तालाप करानेका दावा करते हैं परन्तु उत्तम पक्ष यह है कि आजकलके प्रायः इन बनावटी गुरुओं और महात्माओंके पीछे न पड़ उन्हें गुरु बनानेके बदले ऐसा विश्वास करे कि 'जो मेरे जन्म-जन्मान्तरसे सद्गुरु हैं जिनकी कृपादृष्टि मुझपर सदा-सर्वदा रहती है और मुझको अबतक जो उत्तम स्वभाव, शुभकर्म और ज्ञान मिला है सो सब केवल उन्हीं की कृपाका फल है, उन्होंने ही मुझको विघ्न-बाधाओंसे बचाया है और बचा रहे हैं।' बात भी यथार्थमें यही है। ऐसा विश्वास कर साधक उपासनाकालमें सबसे पहले अपने हृदयमें उक्त गुरुके चरण-कमलोंका ध्यान करे, क्योंकि वे शरीरधारी हैं और उनके चरण मनुष्य-जैसे ही हैं। इसके बाद हृदयमें इष्टदेवका ध्यान और साथ-साथ मन्त्रका जप करता रहे एवं ऊपर लिखे अनुसार

यम, नियम और साधनचतुष्टयका अभ्यास करे, तथा निःस्वार्थ-भावसे अहंकार त्यागकर इष्टदेवकी सेवाकी भाँति यथाशक्ति परहित-कार्यमें श्रद्धाके साथ लगा रहे, एवं सब प्रकारकी कामनाओंका यहाँतक कि मोक्षकी कामनाका भी त्याग करे। हमारे इन सद्गुरुओंने संसारके हितमें लगे रहनेके लिये निर्वाणका भी त्याग कर दिया है, इसलिये वे उसी साधकको अपनाते हैं जो स्वयं कामनाशून्य होकर यानी मोक्षकी कामनातकका त्यागकर इनके परम त्यागके मार्गका अनुसरण करना चाहता है और अपनेको लोकहितकर कार्यमें अर्पण कर देता है। यही कारण है कि यथार्थ भक्तगण दिये जानेपर भी मोक्षको स्वीकार नहीं करते। इस मार्गमें योगसिद्धि अथवा किसी प्रकारके भी ऐश्वर्यादिकी प्राप्तिकी इच्छा महान् बाधक है और इनकी इच्छा करनेवालेको सद्गुरुकी प्राप्ति कदापि नहीं होती। अधिकांश साधक योगसिद्धि आदिकी इच्छासे ही परमार्थके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं, भगवत्-प्रेमसे सेवाकी भाँति लोकहितकर कार्य करनेके लिये नहीं, जो कि अत्यन्त आवश्यक है। इस सिद्धि-कामनाके कारण उनको न तो सद्गुरु ही मिलते हैं और न यथार्थ भक्तिकी ही प्राप्ति होती है। यथार्थ भगवत्-प्रेम सद्गुरुके प्राप्त होनेपर ही होता है, अन्यथा नहीं।



जगद्गुरु सशक्ति शिव

नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।

(महिम्नःस्तोत्र ३५)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

(गुरुकौमुदी

यहाँ विचारणीय यह है कि गुरुविषयक वह कौन-सा गु तत्त्व है, जिसे सबसे बड़ा परम तत्त्व कहा गया है। फिर गु वन्दनामें जिस गुरु शब्दका वर्णन किया गया है वह किस गुरु लिये लागू होता है और उसका यथार्थ अभिप्राय क्या है ? वन्द के क्रमसे बोध होता है कि ब्रह्मासे परे विष्णु, विष्णुसे परे महे और महेश्वरसे परे परब्रह्म हैं परन्तु यह सभी गुरुरूप हैं । गु शब्दका अर्थ होता है—अज्ञानान्धकारको दूर करनेवाला अर्थ स्वयंप्रकाश ।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
(गुरुकौमुदी)

दक्षिणामूर्ति-स्तोत्रमें लिखा है कि—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥
निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम्।
गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्तये नमः॥

विचारनेसे यह सब गुण आधुनिक दीक्षा-गुरुमें नहीं मिलते। अतः स्पष्ट है कि यहाँ गुरु-शब्दसे अभिप्राय दीक्षा-गुरुसे नहीं है। तब यह प्रश्न होता है कि यदि दीक्षा-गुरुमें उपर्युक्त लक्षण नहीं मिलते तो गुरु-शब्दका तात्पर्यार्थ क्या है? वह परम तत्त्व कौन है, जिसके मिलनेसे अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है? जिसके मुखसे कोई व्यक्त वाक्य न निकलनेपर भी अन्तःकरणमें स्वयं उपदेशकी प्राप्ति हो जाती है और सारे संशय दूर हो जाते हैं? इसका उत्तर परम वैष्णव पुराण श्रीमद्भागवतमें सतीके दक्ष-यज्ञमें दग्ध होनेके प्रसङ्गमें इस प्रकार आता है—

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषा सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥
(भा० ४।४।२७)

उपर्युक्त श्लोकमें श्रीशिवजीको 'जगद्गुरु' कहा गया है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीशिवजी ही जगद्गुरु हैं। शास्त्रों स्पष्ट लिखा है कि गुरुकी प्राप्ति तथा उनकी कृपाके बिना इष्टदेवकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि जबतक मनुष्य श्रीशिवजीको प्रसन्नकर उनकी कृपाका पात्र नहीं बन जाता, तबतक उसे अपने इष्टदेवके दर्शन प्रायः नहीं होते।

आजकल क्या विष्णु, क्या राम, क्या कृष्ण, क्या नृसिंह क्या लक्ष्मीनारायण—सभीके उपासक जिन दीक्षामन्त्रोंको ग्रहण करते हैं, वे सब तान्त्रिक मन्त्र हैं। तथा आधुनिक पञ्चोपासनाकी दीक्षापद्धति भी तन्त्रकी पद्धति ही है, एवं इनके प्रवर्त्तक श्रीशिवजी ही हैं। वैष्णवोंकी दीक्षाका मूल ग्रन्थ नारदपाञ्चरात्र भी तन्त्रके अन्तर्गत आता है। इस तान्त्रिक दीक्षाका प्रचार कलियुगके जीवोंपर दया करके श्रीशिवजीने किया, क्योंकि जगद्गुरु होनेके कारण उनका ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक था।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी इस गुरु-तत्त्वके रहस्यको जानते थे, यही कारण है कि उन्होंने श्रीरामचरितमानसके प्रारम्भमें वन्दना करते हुए लिखा है कि—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

(रामचरितमानस बाल०)

तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी अपने श्रीमुखसे कहा है—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

(लङ्काकाण्ड)

औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकरभजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि॥

(उत्तरकाण्ड)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीको उपर्युक्त सिद्धान्तमें केवल विश्वास ही नहीं था प्रत्युत उन्होंने जगद्गुरु श्रीशिवजीकी कृपाकी प्राप्तिके लिये काशीमें निवासकर उनकी आराधना की थी। जिसके फलस्वरूप उनको भगवान् श्रीरामचन्द्रकी भक्ति प्राप्त हुई थी।

श्रीशिवजी जब प्रसन्न होते हैं तो साधक (भक्त) को अपनी दिव्यशक्ति प्रदान करते हैं, जिससे अविद्याके अन्धकारका नाश हो जाता है और साधकको अपने इष्टकी प्राप्ति होती है। इसी प्रथा-के अनुसार श्रीसीताजीने पहले श्रीजनकपुरमें शिव-धनुषकी सेवाके द्वारा श्रीशङ्करकी सेवा की और तत्पश्चात् उनकी विद्याशक्ति श्री-गिरिजाजीकी आराधनासे श्रीभगवान् कोसलेशको (अपने इष्टको) प्राप्त किया। गोपियाँ जब अपने इष्ट (प्यारे कृष्ण) की प्राप्तिके लिये व्याकुल हुई थीं तब उन्हें भी श्रीशिवजीकी शक्ति व्रजेश्वरी श्रीकात्यायनी देवीजीकी आराधना करनेके बाद ही श्रीभगवान्की प्राप्ति हुई थी। अर्जुनने श्रीशङ्करकी आराधनाकर फलस्वरूप श्री-भगवान्को प्राप्त किया था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने लङ्कायुद्धके समय श्रीशिवकी शक्ति श्रीदुर्गाका आश्विन मासमें उत्थान कराया था। महाभारत-युद्धमें द्रौपदीकी शक्तिके कारण ही विजय प्राप्त हुई थी, क्योंकि द्रौपदी आद्याशक्तिकी कला थी।

योग, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंके परम आचार्य और यथा दाता श्रीशिवजी हैं, तथा ऋषिगण भी श्रीशिवजीके प्रसादसे ह इनका संसारमें प्रचार करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्री रामेश्वरनाथ महादेवकी स्थापनाकर इस परम शिवतत्त्वका उपदे संसारको दिया था। क्योंकि हम देखते हैं कि लङ्कासे लौटते सम श्रीभगवान्‌ने सेतुके समीप आनेपर श्रीसीताजीसे कहा था—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।

(वाल्मी० लं० १२३। २०)

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी गुरुद्वारा दीक्षित होकर श्रीशिवजी हिमालयमें आराधना की थी। महाभारतमें जो श्रीकृष्ण-कृत शिव स्तुति है, उसपर विचार करनेसे श्रीशिवके विशेष महत्त्वका पत लग सकता है।

शिव-तत्त्व परम रहस्यमय है और इसको बहुत कम लो जानते हैं। आजकल भी ऐसे साधक हैं जिन्हें श्रीशिवसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होनेपर ही अपने इष्टदेवकी प्राप्ति हुई है। श्रीशिवकी कृपासे ही सद्गुरुकी प्राप्ति होती है और सद्गुरु सदा शिवके अधीन रहते हैं वह सब जीवन्मुक्त ऋषि हैं।

यह परम शिव-तत्त्व तथा गुरु-तत्त्व आजकल प्रायः गुप्त है परन्तु संसारके कल्याणके निमित्त इसकी चर्चा अवश्य होनी चाहिये।



दक्ष-यज्ञ-ध्वंसका रहस्य

त्रिमार्ग



रम वैष्णवपुराण श्रीमद्भागवतके चौथे स्कंधमें दूसरे अध्यायसे सातवें अध्यायतक प्रजापति दक्षकी कन्याओंके विवाह एवं यज्ञ-ध्वंसका वर्णन है । इस वर्णनमें बहुत बड़ा आध्यात्मिक रहस्य भरा हुआ है ।

प्रजापति दक्षके सोलह कन्याएँ थीं । उनमें श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा ह्री और मूर्ति नामक तेरह कन्याओंका विवाह धर्मके साथ हुआ ! इनमें प्रथम बारह कन्याओंसे क्रमशः शुभ, प्रसाद, अभय, सुख,

आनन्द, गर्व, योग, अहंकार, अर्थ, स्मृति, क्षेम और विनय नामक सन्तान हुईं। इन नामोंसे यह स्पष्ट है कि ये सब सद्गुण सदाचार एवं उनके अभ्यासका फल है। सनातन वैदिक धर्म (दक्ष) की श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति आदि बारह कन्याएँ और शुभ, अभय, क्षेम, विनय आदि उनकी सन्तति ही सद्गुण, सदाचार तथा उनके फल हैं। ये ही उसकी भित्ति हैं।

चौदहवीं कन्या स्वाहाका विवाह अग्नि-देवतासे हुआ। यह देव-यज्ञका निर्देश करता है। क्योंकि यज्ञ करते समय 'स्वाहा' का उच्चारण करके अग्नि (देवताओंके मुख) में आहुति देना मुख्य कार्य है। यह सदाचारके बादकी ही साधना है। पन्द्रहवीं कन्या स्वधाका पितरोंके साथ ब्याह हुआ, इसका तात्पर्य पितृ-यज्ञका पालन करना है। जिसमें 'स्वधा' का उच्चारण होता है।

सोलहवीं कन्या सती जो परम उच्च और अन्तिम फल है, श्रीशिवजीको ब्याही गयी, जिसका तात्पर्य यह कि सदाचार-पालन एवं कर्मकाण्ड-यज्ञादिकी फलरूपा सती अर्थात् ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति है। जिस ब्रह्म-विद्याके अधिष्ठाता जगद्गुरु श्रीशिवजी हैं और जो उनकी आराधनासे ही प्राप्त होती है। योग, ज्ञान और भक्ति उस ब्रह्म-विद्याकी साधना है एवं ये सब ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत हैं। वहाँ यह कथा भी है कि स्वधाने पितरोंसे वयुना एवं धारिणी नामक दो कन्याएँ उत्पन्न की थीं। ये ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश करनेवाली एवं ज्ञान-विज्ञानसे युक्ता थीं।

उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि सदाचार, जो प्रधान धर्म

है, कर्मकाण्ड, जिसमें देवता एवं पितरोंकी आराधना मुख्य है और ज्ञानकाण्ड, जिसमें श्रीशिवजीकी कृपासे ब्रह्म-विद्याकी प्राप्तिका लक्ष्य है, साधन-पथके उत्तरोत्तर तीन क्रम हैं।

सद्गुरु

इनमें ज्ञानकाण्ड आध्यात्मिक ब्रह्मयज्ञ है। जिसके अधिष्ठाता ब्रह्मर्षिगग हैं। ये ब्रह्मर्षिगण ही वास्तवमें ब्रह्म-विद्याके उपदेशक, आचार्य और सद्गुरु हैं, पर ये सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके अधीन होनेसे उनके आदेशानुसार ही कार्य करते हैं। ब्रह्मर्षिगणके सद्गुरु होनेके कारण ही शास्त्रमें ऋषि-ऋणके परिशोधका उल्लेख है। 'गुरुके बिना यथार्थ योग, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती' इस सिद्धान्तका तात्पर्य यही है कि जगद्गुरु श्रीशिवजीकी कृपासे ही किसी सद्गुरु-ऋषिसे सम्बन्ध होता है और तभी आध्यात्मिक दीक्षाद्वारा यथार्थ योग, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति होती है। लिङ्गपुराणके ७० वें अध्यायमें इन सद्गुरुओंको योगाचार्यके नामसे कहा गया है एवं ये सब श्रीशिवजीके पुत्र अर्थात् शिष्य माने गये हैं।

श्रीशिवजीकी दयासे इन योगाचार्योंमेंसे किसी एकको सद्गुरुरूपमें पानेपर ही वैष्णव अपने इष्ट विष्णुको, शैव सदाशिवको, शाक्त महाविद्याको, सौर श्रीसूर्य भगवान्को, गाणपत्य आदिदेव गणेशको यथार्थमें साक्षात् प्राप्त कर सकते हैं*।

---

* यह सिद्धान्त केवल शास्त्रके आधारपर ही नहीं, इसमें अनेक महात्माओंके अनुभवका भी आधार है।

दीक्षा-गुरुगण तो इन सद्गुरुओंकी प्राप्तिमें केवल सहायक हैं

श्रीशिवजी जगद्गुरु हैं, इस बातका प्रमाण प्रजापति दक्षकी कथामें है, जैसा कि कहा गया है—

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥

(भागवत ४ । २ । २

'हे मुने ! वे तो चराचर जगत्के गुरु, निर्वैर, शान्त मूर्ति और आत्मामें रमण करनेवाले हैं, उनकी किसीसे शत्रुता नहीं है उनसे प्रजापति दक्षने क्यों वैर किया ?'

चौथे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी श्रीशिवजीको जगद्गुरु कहा गया है ।

दक्ष-यज्ञ-ध्वंस

कर्मकाण्डमें देवयज्ञ और पितृयज्ञ मुख्य हैं । इनका पालन कर्तव्य समझकर शास्त्रकी आज्ञानुसार देव और पितृ-ऋणके परिशोधके लिये करना चाहिये । इसी कारण इनको महायज्ञ कहा गया है । द्विजके लिये ये पञ्च-महायज्ञ अवश्य-कर्तव्य नित्य-कर्म हैं । इनमें अहिंसाप्रधान सदाचारका पालन तो अवश्य ही होना चाहिये, अतएव पञ्च-महायज्ञमें किसीकी हिंसा न होकर संसारका कल्याण ही होता है ।

पर जब देवयज्ञ कर्तव्य-पालनके रूपमें न किया जाकर वेदके नामपर स्वार्थके लिये किया जाता है तथा जब शरीर और

उसकी वासनाको ही 'यत्परो नास्ति' माना जाता है, एवं उसकी सिद्धिके लिये हिंसा की जाती है, तब आत्मविद्याकी अवहेलना होती है। क्योंकि आत्मविद्या सब प्राणियोंमें एक आत्माका बोध कराती है और वह आत्मा स्वयं परमात्मा है, इसी कारण हिंसा परम पाप और अहिंसा परम धर्म है! इसी अवस्थाको प्राप्त होनेके कारण परिणाममें दक्षप्रजापतिके यज्ञका विध्वंस हुआ। क्योंकि प्रकृति और उसके कार्य नश्वर हैं, केवल आत्मा ही सनातन, सत् और अचल है।

दक्ष-यज्ञकी कथासे स्पष्ट है कि दक्ष अर्थात् उस समयके याज्ञिक शरीरको ही आत्मा मान यथार्थ आत्माकी अवहेलना करके सकाम हिंसा-युक्त प्रवृत्ति-मार्गके अनुयायी बन गये और अहिंसक निवृत्ति-मार्गके लक्ष्य ज्ञानकाण्डके अधिष्ठाता श्रीशिवजीके विरोधी हो जानेसे उनके यज्ञका ध्वंस हुआ। यहाँ आदि दक्ष (सनातन वैदिक धर्म) और कालान्तरमें विकृत दक्ष (हिंसक सकाम वैदिक धर्म) के भेदपर ध्यान रखना चाहिये।

इस कथामें नन्दीके वक्तव्यसे यह ज्ञात हो जाता है कि नाशवान् शरीरको श्रेष्ठ और आत्मा माननेवाला, विषय-भोगके सुखोंमें लिप्त रहकर सकाम यज्ञको ही अक्षय पुण्यका कारण समझनेवाले तथा इसीका प्रचार करनेवाला एवं ब्रह्मविद्या और उसके दीक्षा देनेवाले श्रीशिवजीकी अवज्ञा करनेवाला ही दक्ष है। जैसे—

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत्॥

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥*
बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो वस्तमुखोऽचिरात् ॥
विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥
गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः संमुह्यन्तु हरद्विषः ॥
(भागवत ४ । २ । २२-२६

'जो भेददृष्टिवाला मनुष्य इस साधारण दक्षका पक्ष लेकर मूर्खतावश किसीसे द्वेष या अन्यायाचरण न करनेवाले भगवान् सदाशिवसे द्वेष कर रहा है वह परम तत्त्वके मार्गसे विमुख हो जाय । वह विषयसुख पानेकी इच्छासे कपटधर्मयुक्त गृहस्थाश्रममें आसक्त हो एवं वेदके वचनोंमें मोहित बुद्धिवाला होकर कर्मजालको बढ़ाता रहे । देहको आत्मा मान, आत्मगतिको भूला हुआ यह पशु दक्ष स्त्रीकाम अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग और सृष्टिकार्यमें लगा रहे एवं बकरेका मुखवाला हो जाय । यह जड पशु दक्ष, कर्ममयी अविद्याको विद्या जानता है । अतः शिवके अनादरकारी इस दक्ष-का अनुसरण करनेवाले भी इसीके साथ जन्म-मरणका कष्ट भोगें। स्वर्गादि-प्राप्तिको जतानेवाली वेदकी पुष्पित वाणीकी मनोहर मधुर

* श्रीमद्भगवद्गीताका निम्नश्लोक भी इसी आशयका है—
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२ । ४२)

गन्धसे शिव-द्रोहियोंका मन उन्मथित हो और वे मोह अर्थात् भ्रमको प्राप्त हों ।' और भी कहा है—

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥
(भागवत ४ । ३ । ३)

'अभिमानके कारण दक्षने ब्रह्मज्ञानी शिव आदिका निरादर करके अर्थात् उनको न बुलाकर प्रथम 'वाजपेय' यज्ञ किया और फिर 'बृहस्पतिसव' नामक यज्ञका प्रारम्भ किया ।'

श्रीमद्भागवत अ० ४ श्लो० १० में दक्षको धूमपथका अनुयायी कहा है, गीताके अनुसार इस पथके पथिकका पुनरागमन होता है । दक्षके सकाम यज्ञके प्रवृत्तिमार्ग और श्रीशिवजीद्वारा अधिष्ठित ज्ञानकाण्डके निवृत्तिमार्गका भेद निम्नलिखित श्लोकमें बड़ी सुन्दरतासे वर्णन किया गया है—

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥
(भागवत ४ । ४ । २१)

'हे पिता ! हमारे अन्दर जो अणिमादि सिद्धियाँ अवस्थित हैं वे तुम्हें नहीं मिल सकतीं । तुम्हारा ऐश्वर्य तो यज्ञशालाहीमें है । यज्ञके अन्नसे तृप्त पेट पालनेवाले धूमपथके अनुयायी ही उसकी प्रशंसा करते हैं । पर हमारा ऐश्वर्य ऐसा नहीं है । उसका

कारण अव्यक्त (ब्रह्म) है और ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ही उस ऐश्वर्य भोग करते हैं।'

ब्रह्मा और विष्णु भी इस शिव-विरोधी दक्षके यज्ञका दुष्परिणाम जानकर नहीं आये। यज्ञ-ध्वंस होनेपर, ब्रह्मा कैलाश शैलपर शिवजीके पास गये। इस समयके वर्णनमें भी शिव जगद्गुरुके रूपमें महासिद्धोंके भी गुरु और महर्षियोंको भी ब्रह्मविद्याकी दीक्षा देनेवाले कहे गये हैं।

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम्॥
विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम्॥
उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम्।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते श‍ृण्वतां सताम्॥

(भागवत ४। ६। ३४-३५-३७

'शान्त-शरीर और शान्त-स्वभाव सनन्दनादि महासिद्ध एवं यक्ष-राक्षसोंके स्वामी, शिवजीके सखा कुबेर, शिवजीकी उपासना कर रहे हैं। संसारके सुहृद्, लोगोंके मंगल-विधायक देवदेव महादेव शिवजी एकाग्रचित्तसे समाधि लगाये हुए कुशासन पर बैठे हैं। नारदजी ब्रह्म-ज्ञानके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहे हैं एवं आप उसका उपदेश दे रहे हैं, अन्य सनकादि योगीजन (चित्त लगाकर) सुन रहे हैं।'

ब्रह्माजीके कहे हुए इन आगेके श्लोकोंसे शिवजीका महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है।

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥

(श्रीमद्भा० ४।६।४२-४३)

'मैं आपको जानता हूँ, आप जगत्‌की योनिशक्ति मायाके और बीजशिवस्वरूप ब्रह्मके परम कारण होकर भी इनसे परे भेदहीन, विकाररहित ब्रह्म हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपनी इच्छासे जालको रचकर उससे क्रीडा करके फिर नष्ट कर देती है उसी प्रकार हे भगवन्! आप इस पुरुषप्रकृतिस्वरूप जगत्‌को प्रकट करके क्रीडा करते हुए उत्पत्ति, पालन और नाश करते हैं।'

श्रीशिवजीकी कृपासे प्रजापति दक्षके पुनर्जीवित होनेपर उन्होंने श्रीशिवजीको ब्रह्मविद्याका प्रवर्तक एवं अपनेको तत्त्वज्ञान-से रहित स्वीकार किया था—

विद्यातपोव्रतधरान्मुखतः स्म विप्रा-
न्ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक्।
तद्ब्राह्मणान्परमसर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः॥
योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम्।

अर्वाक्पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्-

दृष्ट्यार्द्रया स भगवान्स्वकृतेन तुष्येत् ॥

(श्रीमद्भा० ४।७।१४-१५

'प्रभो ! आपने ही पहले ब्रह्मरूपसे आत्मतत्त्वकी रक्षा करने के लिये विद्या, तप और व्रतको धारण करनेवाले ब्राह्मणोंको मुख से उत्पन्न किया था। आप ही पशुपालकके समान हाथमें दण्ड लिये सम्पूर्ण विपत्तियोंमें ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं।

'मुझे तत्त्वका ज्ञान नहीं था, इसीलिये मैंने यज्ञसभामें आप पर दुर्वचनरूप बाणोंकी वर्षा की। मैं आपकी निन्दा करनेके कारण नरकमें गिर रहा था। पर आपने दयादृष्टिसे मेरा उद्धार कर दिया, अतः (मैं बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ) आप अपने किये हुए कर्मसे ही प्रसन्न हों।'

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों एक हैं, इनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। भेद माननेवाला अज्ञानी है। तीनोंको एक माननेवाला ही परम शान्तिको प्राप्त होता है। श्रीविष्णु भगवान्के कहे हुए इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट हो जाता है—

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥
तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति ॥

(श्रीमद्भा० ४।७।५१-५२, ५४)

'हे द्विज ! मैं अपनी गुणमयी मायाको ग्रहण करके जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करता हुआ, भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न नामोंको धारण करता हूँ ।

मैं ही एक अद्वितीय परब्रह्म हूँ । मुझसे ब्रह्मा और रुद्रको जो अलग समझता है वह मनुष्य मूर्ख है ।

सब प्राणियोंके आत्मा हम तीनोंको जो एक ब्रह्म जानकर भेदभाव नहीं रखता वही पूर्ण शान्तिको प्राप्त होता है ।'

इस आख्यानसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो साधन-पथकी पहली सीढ़ी सद्गुण और सदाचारका पालन न कर एवं दूसरी सीढ़ी देव और पितृऋणसे मुक्त न होकर तथा इनकी अवहेलनाकर अहिंसा आदिकी उपासनाके नामसे धर्मके विरुद्ध आचरण करते हैं एवं सीधे तत्त्वज्ञानप्राप्तिकी घोषणा करते हैं, वे भी पतित हो जाते हैं । तामसिक तन्त्रका वाममार्ग यथार्थ शिवमार्ग नहीं है ।

श्रीशिवजीकी आज्ञासे प्रजापति दक्षके धड़पर यज्ञमें बलि किये हुए बकरेका सिर जोड़कर उन्हें जीवित किया गया । इसका भाव यह है कि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें अहिंसा सर्वप्रथम और मुख्य साधन है । हिंसाद्वारा आध्यात्मिक जीवनसे मृतप्राय दक्षको अहिंसक होनेपर अर्थात् यज्ञपशुको भी अपना आत्मा समझकर अहिंसाव्रत धारण करनेसे ही आत्मामें पुनर्जीवन प्राप्त हुआ ।

सात्त्विक शास्त्रोंका निर्माण

जब वेदके संहिताभाग ब्रह्मविद्या (सती) का लोगोंने निरादर किया और उसके गूढ़ तत्त्वोंको न समझकर केवल मन्त्रभागको ही

वेद मानने लगे एवं वैदिक ब्रह्मविद्या (सती) के प्रयत्न करने भी जब दक्षका भ्रम दूर न हुआ तो वैदिक सतीने समयानुस अपनेको परिवर्तन किया । श्रीशिवजीद्वारा वेदकी संहिताकी ब्रह्म विद्या रामायण और नारदपाञ्चरात्र आदि सात्त्विक तन्त्रग्रन्थों रूपमें प्रकट हुई । एवं उसीको श्रीवेदव्यासजीने पुराण औ महाभारतके रूपमें प्रकट किया ।

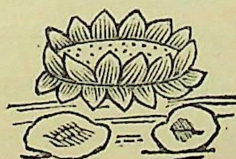
उपासना, योग और ज्ञान ये तीनों ज्ञानकाण्ड अर्थात् ब्रह्म विद्याके ही भाग हैं । संसारके कल्याणके लिये जो निष्काम य किया जाता है, वह ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिकी साधना है । देवयज्ञ पितृयज्ञ आदि पञ्चमहायज्ञ अवश्यकर्तव्य कर्म हैं, इनके करने ही मनुष्य ब्रह्मविद्याका अधिकारी होता है । परन्तु जो लोग इ यज्ञोंको सांसारिक कामनाके लिये करते हैं तथा जो यज्ञमें हिं करते हैं वे यज्ञका दुरुपयोग करते हैं । इसीलिये ब्रह्मविद्या भण्डार श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्कामयज्ञ, योग, ज्ञान एवं भक्ति इ सबको एक साथ प्राप्त करनेकी आवश्यकता दिखलायी गयी है।

श्रीविष्णु और श्रीशिव

श्रीविष्णु प्रवृत्तियोगीश्वर हैं, वे लोकोंका धारण और पाल करते हैं, इसीलिये लक्ष्मी आदि ऐश्वर्य भी उनके पास है । प शिवजी निवृत्तियोगीश्वर हैं । इनके पास श्मशानवास, भिक्षाटन व्याघ्रचर्मधारण, मस्तकमें सर्प अर्थात् अधः और ऊर्ध्व कुण्डलिनीकी एकता आदि निवृत्तिके चिह्न, वृष अर्थात् धर्म उनका वाहन है प्रत्येक निवृत्तिमार्गके अनुयायीको इनकी सहायता और कृपा प्रा

होती है। इन्द्रियाँ पशुके समान हैं। इनका पूरा दमन भी श्रीशिवजीकी शक्ति दुर्गाद्वारा ही होता है। मार्कण्डेयपुराणकी सप्तशती चण्डीकथामेंके महिषासुर क्रोध, रक्तबीज काम और धूम्रलोचन मद ही है। अतः साधकको इनका दमन शिव-शक्ति अर्थात् आत्मविद्याके बलसे करना चाहिये। गीतामें भी लिखा है कि 'अपनेको आत्मा जानो' अर्थात् आत्मशक्तिसे इन्द्रियोंका दमन करो। श्रीशिवजी जब किसी आकारको आत्मोन्नतिका बाधक अथवा व्यर्थ समझते हैं या बेकार समझते हैं तो उसको नष्टकर दूसरेको उत्पन्न करते हैं, जिससे आत्मोन्नतिमें सहायता मिलती है। श्मशानवासका यही तात्पर्य है अर्थात् बाधकका नाश करके सहायकको उत्पन्न करना।

विष्णु और महाविष्णुके समान श्रीशिव भी शंकर और सदाशिव महेश्वर हैं। योगाचार्य बाल योगीश्वर हैं।



आनन्दकी खोज

मन्दारमूले मदनाभिरामं बिम्बाधरापूरितवेणुनादम्।
गोगोपगोपीजनमध्यसंस्थं गोपं भजे गोकुलपूर्णचन्द्रम्॥



यः सभी जीव इस लीलामय विश्वजलधिमें निरन्तर केवल आनन्दामृतका अन्वेषण करते हैं। क्योंकि वह उनकी स्वरूपसम्पत्ति है जिसके मिलनेसे उनकी संसृति और तज्जन्य क्लेश पूर्णतः मिटते हैं और परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। योगी योगमें, भोगी भोगमें, तपस्वी तपस्यामें, ज्ञानी ज्ञानमें, विषयी विषयमें, लोलुप वित्तके लोभमें, दुराचारी दुराचारमें, रसिक रसिकतामें सभी इस एक आनन्दहीके अन्वेषणमें व्यस्त हैं। किन्तु शोक है कि इस आनन्दके यथार्थ

रूप, इसके वासका यथार्थ स्थान और इसकी यथार्थ प्राप्तिके ठीक उपाय बहुत थोड़े लोग जानते हैं और उन जाननेवालोंमेंसे भी बहुत थोड़े लोग उपयुक्त चेष्टा करते हैं। अधिकांश लोगोंकी तो इस विषयमें विपरीत भावना है जिससे उनकी चेष्टा सफल नहीं होती और विपरीत भाव होनेके कारण उसका परिणाम भी दुःखद होता है। इस आनन्दका आधार सत्-चित् है जो अनन्त है किन्तु जो उसके विरुद्ध बाह्य पदार्थ असत्, जड़ और स्वल्प हैं, उनमें इसका अस्तित्व मानकर उन्हींकी प्राप्तिमें इसकी प्राप्ति मान ली गयी है और इसी कारण हमलोग विषय-भोगके पदार्थोंको अपनानेके लिये आपसमें हिंसा, असत्य, क्रोध, स्तेय, अन्याय आदिका प्रयोग करते हैं, जिनसे कर्ता और विशेषरूपसे उनके भोक्ता तथा उनके संसर्गीगण भी साधारणरूपसे परिणाममें बड़ा कष्ट भोगते हैं। जैसे तम और प्रकाश आपसमें विरोधी होनेके कारण एकत्र नहीं रह सकते, उसी प्रकार सत् और चिन्मयरूपी आनन्द, असत् और जड बाह्य विषयमें कदापि रह नहीं सकता।

सत्य यह है कि असत् और जड पदार्थ अपने बाह्य आकार-द्वारा यथार्थमें दुःखद हो हैं, क्योंकि वे आनन्दके विरोधी गुणवाले हैं। बाह्य विषयमें लोगोंको जो किञ्चित् क्षणिक सुख मिलता है उसका कारण यह है कि सत्-चित्-आनन्दकी उसमें छाया है और चूँकि छाया असत् है, अतएव छायाके कारण विषयजनित सुख भी असत् क्षणिक हैं और परिणाममें दुःखद हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं दुःखमूलक हैं। इनमें क्षणिक सुख भी इसी कारण

प्रतीत होता है कि छायाके संसर्गसे क्षण कालके लिये किञ्चित् शान्त हो जाता है और शान्त होनेसे अन्तर्मुख हो वह अन्तरस्थ स्वरूपानन्दके एक लवमात्रकी छाया ही प्राप्त क है और उसीको सुख मानता है। विचारनेसे पता लगता है यह छायारूपी क्षणिक सुख भी बाह्य पदार्थसे नहीं मिलता कि उसके संयोगके कारण चित्तके किञ्चित् शान्त और एकाग्र हो अन्तर्मुख होनेसे अन्तरसे ही आता है।

किसी पदार्थके संयोगसे सदा सुख प्रतीत होता है कि उसके संयोग होनेपर भी यदि किसी विशेष कारणसे उस स चित्त शान्त और एकाग्र नहीं हुआ तो उस पदार्थके मिलनेपर सुख प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सुखके अनुभवका कारण अन्तरस्थ आत्माकी छाया है जो मनकी चञ्चलता और उद्विग्नता कारण प्राप्त हो नहीं सकती। इसी कारण जिस भोजनसे स्व चित्त रहनेके समय सुख मिलता है, वही भोजन ज्वरादि रोग अस्वस्थ-चित्त रहनेके कारण अरुचिकर प्रतीत होता है और भोज करनेपर भी सुखके बदले उससे प्रायः दुःख ही प्राप्त होता है श्रीभगवान्‌ने भी भगवद्गीतामें यही कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'हे अर्जुन! जो रूप-रसादि इन्द्रियोंके भोग हैं वे दुःख मूल कारण हैं, उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, विवेकी पु

इन विषयोंमें रमण नहीं करते।' अतएव यह स्पष्ट है कि हमलोग आनन्दको उसके उपयुक्त स्थानमें न खोजकर विरोधी भोग-पदार्थोंमें ढूँढ़ते हैं, जिससे सुख-शान्तिके बदले हमें दुःख और अशान्ति ही मिलती है और इसी अज्ञानतासे सुख-प्राप्तिमें कृतकार्य न होनेपर, यों समझकर कि 'विषयकी मात्रा स्वल्प रहनेके कारण सुख नहीं मिला, अधिककी प्राप्तिसे सुख मिलेगा' विषय-भोगके अधिकतर संग्रहमें व्यस्त हो जाते हैं। अधिककी प्राप्ति होनेपर व्यग्रता और अधिक बढ़ जाती है तथा शान्ति न मिलनेसे अधिककी प्राप्तिके लिये वासना होती है, इस प्रकार वासना बढ़ती ही रहती है उसका कहीं अन्त नहीं आता, क्योंकि विषय-भोगके पदार्थ मृगतृष्णाके मरुजलके समान असत् अतएव दुःखमूलक हैं, उनमें वह सुख कहाँ, जिसके वे यथार्थमें विरोधी हैं। इसलिये श्रीभगवान् गीतामें उपदेश देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(२।१४)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(५।२३)

'हे कौन्तेय! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो इन्द्रियोंके विषय हैं वे सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख देनेवाले हैं, अनित्य हैं और आते-जाते रहते हैं। कभी दुःख और कभी (क्षणिक) सुख होता है, कभी सर्दी-गर्मी होती है, इससे हे अर्जुन! इनमें आसक्ति न रख और

इनको सहकर इनकी उपेक्षा कर । हे अर्जुन ! जो मनुष्य जीते इसी शरीरमें काम और क्रोधके वेगोंको जीत लेता है, वही और सुखी है ।' उपर्युक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रि विषय-भोग दुःखके कारण हैं, इनमें लेशमात्र भी आनन्द नहीं इनमें आनन्दका अन्वेषण करना मानों, आकाशकुसुमकी प्राप्ति लिये व्यर्थ चेष्टा करनेके समान है, जिस व्यर्थ चेष्टासे दुःख क्लेशके सिवा कदापि किसी सुखकी सम्भावना नहीं । आनन्द मूल क्या है, इसके विषयमें गीता कहती है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(१४ । २

'हे अर्जुन ! अविनाशी ब्रह्मका स्थान मैं ही हूँ, मोक्षरू ही हूँ, सनातन धर्मका स्थान मैं ही हूँ और नित्य आत्यन्तिक सुख स्थान मैं ही हूँ ।' उपर्युक्त वाक्यसे स्पष्ट है कि यथार्थ आनन्दका आश्र एकमात्र केवल श्रीभगवान् हैं, उनके सिवा अन्य कोई नहीं । प्रश्न है कि उन आनन्दके परम कारण श्रीभगवान्‌की प्राप्ति कै हो सकती है ? इस प्रश्नका उत्तर भी ऊपरके वाक्यमें ही स्पष्ट है श्रीभगवान्‌का कथन है कि मैं शाश्वत धर्म, परमानन्द और मो इन तीनोंका आश्रय हूँ अर्थात् इन तीनोंको अपनेमें अन्योन्याश्रय है श्रीभगवान्‌के स्वभाव और इच्छाका विकास ही सृष्टिमें शाश्वत ध है जिसपर सृष्टि स्थित है और वही इसके उद्भव अर्थात् इस ईश्वराभिमुखी करनेका एकमात्र उपाय है, अतएव उसके पालन

ही आत्मानन्दकी प्राप्ति और फिर मोक्षरूपसे श्रीभगवान्‌की प्राप्ति होगी। सब दुःखोंके अत्यन्ताभावको ही मोक्ष कहते हैं। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति केवल सनातनधर्मके पालनसे ही हो सकती है। सनातनधर्म श्रीभगवान्‌का ही रूप और उन्हींकी इच्छाशक्ति है। चूँकि यह धर्म ही केवल सृष्टिका कल्याण करनेवाला है और इसके विरोधी अधर्मसे सृष्टिकी बड़ी हानि होती है, इसीसे जब-जब इसकी कमी और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब धर्मकी वृद्धि और अधर्मका ह्रास करनेके लिये श्रीभगवान् स्वयं अवतार लेकर संसारमें प्रकट होते हैं (गीता ४।७)

अब विचारना चाहिये कि वह 'धर्म' क्या है? परम कल्याणके आश्रय केवल श्रीभगवान् हैं और गुणमयी बाह्य प्रकृति परम दुःखका मूल है अतएव जो जीवको ईश्वरोन्मुख कर यथार्थ कल्याण और अभ्युदयका सम्पादन करे वही धर्म है, यही धर्मकी साधारण परिभाषा है और इसके विपरीत जो श्रीभगवान्‌से दूर ले जाकर गुणमयी प्रकृतिके विषयभोगकी आसक्तिमें फँसा दे (ऐसा भ्रम उत्पन्न कर दे कि प्रकृतिके भोग्य पदार्थ सुखद हैं जो यथार्थमें दुःखद हैं) वही अधर्म है।

जीवके ईश्वरोन्मुख होनेके लिये प्रथम आवश्यक यह है कि उसकी स्थिति आत्मामें हो क्योंकि आत्माका ही परमात्मामें समर्पण या मिलन हो सकता है। जड और प्राकृतिक अनात्म पदार्थ अन्तःकरणका अप्राकृत परमात्मचेतनसे सम्बन्ध नहीं हो सकता! श्रीभगवान्‌का अंश होनेके कारण आत्मा उपाधिके कारण अनेक

प्रतीत होनेपर भी परमार्थदृष्टिसे वह समान और एक ही है यथार्थमें नामरूपात्मक जगत् प्रकृतिका एक रूपान्तर है उसके भीतर केवल एक चैतन्य आत्मा ही निहित है। इस का विचारसे जबतक बाह्य नानात्वके बदले एक आत्मसत्ताका ज्ञ नहीं होगा तबतक आत्मामें स्थिति असम्भव है क्योंकि प्राकृति दृष्टिसे संसारमें 'नानात्व' है और अध्यात्मदृष्टिसे 'एकत्व' है कि दोनों दृष्टि परस्पर विरोधिनी हैं। प्राकृतिक दृष्टिके त्यागसे अध्यात्मदृष्टिकी जागृति होती है। गीताका वचन है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
(१३। ३०

'हे अर्जुन! जो पुरुष स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके भिन्न-भि भेदोंमें एक परमात्मसत्ता देखता है और उसीसे सबका विस्त मानता है, वही ब्रह्मकी प्राप्ति करता है।' अतएव विश्वविराट् पुरु प्राणियोंसे जीवके अभिन्न होनेके कारण और प्रकृतिको जयक ईश्वरोन्मुख होनेमें ही सृष्टिका कल्याण होनेके कारण जिस कर्म सृष्टिके प्राणी ईश्वरोन्मुख हों वही धर्म है और कर्तव्य है। जिस इसमें बाधा पड़ती है वही अधर्म और अकर्तव्य है! सम्पू गीतामें इसी धर्मका व्याख्यान है और इसके भिन्न-भिन्न अंगोंक यज्ञ, योग, तप, ज्ञान, भक्ति आदि नामसे वर्णन किया गया है। गीतामें भगवान्का वचन है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(१८। ७०

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(९ । ३)

'हम दोनोंके इस धर्मसम्बन्धी संवादको जो पढ़ेगा, वह ज्ञानयज्ञद्वारा मेरा भजन करेगा यही मेरा मत है। हे परंतप! जो मनुष्य इस श्रेष्ठ धर्ममें श्रद्धा नहीं करते हैं, वे मुझको प्राप्त नहीं होकर इस मरणशील संसारमें घूमते रहते हैं।' तमोगुण अज्ञान है, रजोगुण कामात्मक प्रवृत्तिकारक है, सत्त्वगुण ज्ञानके प्रकाशके कारण ईश्वरोन्मुख होनेमें सहायता करता है। अतएव कामात्मक रजोगुणको त्यागात्मक यज्ञ, तपस्या आदि कर्मोंमें परिणत करके और इसी प्रकार तमोगुणका दमनकर रजोगुणकी भिन्न और स्वार्थपरत्व दृष्टिको विवेकद्वारा आत्मदृष्टिमें परिवर्तनकर शुद्ध सत्त्वगुणको जागृत करना ही धर्मका मुख्य कार्य है और उसके बाद गुणातीत होना उस धर्मकी पराकाष्ठा है। अतएव शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि आदिको ऐसा निगृहीत और शुद्ध करना चाहिये जिसमें वे केवल संसारके कल्याणके लिये ईश्वरोन्मुख होनेके कार्य जो श्रीभगवान्‌के कार्य हैं, उन्हींमें प्रवृत्त हों। यही धर्म है और जो साधन इसमें सहायक हैं वे सब इस शाश्वत धर्मके अंग हैं। गीतामें इस धर्मका भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये यज्ञ, योग, तप, ज्ञान, सहजधर्म, स्वधर्म, भक्ति आदि नामोंसे वर्णन होनेके सिवा इसके मुख्य गुण और लक्षणोंका वर्णन अध्याय १२ में भक्तलक्षणके नामसे, अध्याय १३ में श्लोक ८ से १२ तक ज्ञानके नामसे, अध्याय १४ में श्लोक २२ से २५ तक गुणातीत-

के नामसे और अध्याय १६ में श्लोक १ से ३ तक है
सम्पत्तिके नामसे वर्णन हैं, जिनका सदा स्मरण रखकर उनकी
प्राप्तिके लिये यत्नवान् होना आवश्यक है।

आत्मामें स्थित होनेसे ही यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति होती है
अन्यथा नहीं। इसमें गीताके ये प्रमाण हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(५।२१)

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
(६।१८)

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६।२१)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
(६।२७)

'हे अर्जुन! जो बाह्य इन्द्रियोंके रूप, रसादि विषयोंकी आसक्ति
नहीं करता वही आत्मामें सुखका अनुभव करता है और वही
ब्रह्मयोगमें युक्त होकर असीम सुखका अनुभव करता है। साधक
जब अपनी चित्तवृत्तियोंका निरोधकर आत्मामें स्थित होता है
और सम्पूर्ण वासनाओंको छोड़कर निःस्पृह हो जाता है, तब वह
मुक्त अर्थात् आत्मनिष्ठ समझा जाता है। हे अर्जुन! जो सुख

अनन्त है, केवल बुद्धिद्वारा ही जाना जाता है, उस सुखमें स्थित होकर योगी आत्मस्वरूपसे चलायमान नहीं होता। हे अर्जुन! जिसका मन शान्त हो गया है, जिसका रजोगुण नष्ट हो गया है और आत्मा निष्पाप हो ब्रह्ममें लीन हो गया है, ऐसे योगीको समाधिका उत्तम सुख प्राप्त होता है।'

यदि कोई उपर्युक्त सिद्धान्तमें, अर्थात् 'विषयभोगमें सुख नहीं, दुःख है और आनन्द केवल परमात्मामें है' कुछ सन्देह करे तो इसका सुलभ उत्तर यही है कि इस विश्वमें यदि एक भी व्यक्ति सच्चे हृदयसे समझता हो कि विषय-भोगसे उसे आत्यन्तिक सुख-शान्ति मिली है और अब उसे कोई दुःख नहीं है और न भविष्यमें उसके आनेका कोई भय है, तो अवश्य इस सन्देहमें सहारा मिलेगा किन्तु सत्य तो यह है कि विषयासक्त पुरुषोंमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिल सकता। सार्वजनीन अनुभव भी यही है कि विषय-भोगके पदार्थोंकी प्राप्तिमें जितनी अधिकता होती है उतनी ही अधिक व्यग्रता, क्षुब्धता और वासनाकी ज्वाला बढ़ती है। आश्चर्य तो यही है कि अधिकतामें अनेक अभाव दृष्टिमें पड़ते हैं जिनकी पूर्तिके लिये व्यस्त रहना पड़ता है। ऐसे व्यक्तिके लिये शान्ति-सुखकी प्राप्ति असम्भव है। अतएव विवेकद्वारा यह प्रत्यक्ष ज्ञान लाभ करना ही साधनाके पथमें प्रथम सोपान है कि सांसारिक विषय-भोगकी प्राप्तिद्वारा यथार्थ सुख कदापि नहीं मिल सकता। जो अल्प सुख मालूम पड़ता है वह भ्रमात्मक है अर्थात् वह सुख भी उक्त पदार्थका गुण नहीं है किन्तु प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे थोड़े

कालके लिये चित्तके एकाग्र और शान्त हो जानेके कारण अन्त आत्माके आनन्दका कणमात्र उसमें भासता है जो चित्तकी शान्त और एकाग्रताके चले जाते ही गायब हो जाता है।

यह भ्रम केवल जीवको अपने जालमें फँसानेके लिये मा रचा है। यथार्थमें बाह्य विषय-भोग दुःखके मूल हैं, इनमें मानना विडम्बनामात्र है। यथार्थ आनन्द केवल श्रीपरमा में है। जीव उनका अंश होनेके कारण शुद्धस्वरूपद्वारा आनन्द है। विषयासक्ति, ममता और स्वार्थको त्यागकर गीता-क निष्काम यज्ञ, तप, ज्ञान और भक्तिका साधन करनेसे प्रथम आ में स्थिति होती है फिर उस शुद्ध आत्माको श्रीपरमात्माके च कमलमें समर्पण करनेसे इस आनन्दकी उपलब्धि होती है यथार्थमें जीवात्मा परमात्माकी ही सम्पत्ति है। उसका अज्ञा अहंकार, ममता और प्रमाद ही उसकी संसृति और तज्ज क्लेशका कारण है। श्रीभगवान्से प्रार्थना है कि लोगोंपर कृ कर इस बोधशक्तिरूप सुधाकी वर्षा करें, जिससे जगत कल्याण हो।



पार्थिववादकी भयानकता

नास्तिकवाद और अज्ञातवाद



प्राचीन कालमें भारतवर्षमें नास्तिकवाद केवल असुरोंमें ही सीमित था, आर्यगण इससे मुक्त थे। चार्वाक् नास्तिकवादके आचार्य माने जाते हैं। पाश्चात्य देशोंमें इसी नास्तिकवाद (Atheism) ने आधुनिक अज्ञातवाद (Agnosticism) का रूप धारण किया है। जिसके अनुसार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वर है ही नहीं' बल्कि यह कहा जाता है कि ईश्वरके अस्तित्वसम्बन्धी ज्ञान और प्रमाण नहीं प्राप्त होते। तात्पर्य यह है कि अनुसन्धानके द्वारा यदि ईश्वरके अस्तित्वका पर्याप्त प्रमाण मिल जाय तो अज्ञातवादी (Agnosticists) उसमें विश्वास कर लेंगे।

× × ×

हिप्नाटिज्म

इस अज्ञातवादके मुख्य प्रचारकोंमें पूर्वमें लन्दनमें च
ब्रैडला और श्रीमती एनी बेसेण्ट थीं । श्रीमान् चार्ल्स ब्रैडला
पत्रके सम्पादक और सञ्चालक थे । एक बार वे लन्दनसे क
कहीं किसी कार्यवश गये थे, वहाँ उनकी स्त्री 'हिप्नोटाइज़्ड'
गयीं और उनसे पूछा गया कि लन्दनमें जो पत्र छप रहा है तथा जि
प्रूफ शीघ्र ही आनेवाला है, वह कैसा छपा है। उन्होंने बतलाय
पत्रके अमुक-अमुक पृष्ठकी अमुक-अमुक लाइनोंमें अमुक-अ
अक्षर उलटे छपे हैं। जब डाकसे प्रूफ आया तब देखा गया
उपर्युक्त बातें अक्षरशः ठीक थीं । यह देखकर श्रीमती एनी बेसे
श्रीचार्ल्स ब्रैडलासे कहा कि 'अब आप अपने पार्थिव अज्ञातवा
सिद्धान्तको परित्याग करें; क्योंकि अब यह सिद्ध हो गया
मनकी गति केवल शरीरकी चेतन दशापर ही निर्भर नहीं क
बल्कि शरीरकी बेहोशी (Hypnotised) की दशामें, शिथिल
भी वह दूर देशतक चली जाती है ।' श्रीमान् ब्रैडलाने उत्तर दि
कि,—'वृद्धावस्थाके कारण अब मैं वर्तमान सिद्धान्तको त्याग
दूसरे सिद्धान्तका अन्वेषण करनेमें असमर्थ हूँ ।' परन्तु श्री
एनी बेसेण्टने उसी दिनसे पार्थिववादका त्याग कर दिया ।

पार्थिववादका मुख्य सिद्धान्त यह है कि चेतनता शरी
परमाणुओंके संगठनविशेषका परिणाम है । यदि इस सिद्धान्त
सच माना जाय तो शरीरकी शिथिलतासे चेतनमें भी शिथि
आ जानी चाहिये, परन्तु हिप्नाटिज़्ममें शरीरकी शिथिलताके का

पात्रके बेहोश हो जानेपर भी चित्तकी गति अधिक वेगवती और तीक्ष्ण हो जाती है एवं चेतना सुदूर स्थानकी वस्तुका याथातथ्येन वर्णन कर सकती है। इससे सिद्ध है कि चेतना शरीरसे स्वतन्त्र और उत्कृष्ट है।

श्रीमान् जगदीशचन्द्र बसुके आविष्कारका मूल तत्त्व प्रकृतिमें पार्थक्य है। वृक्षकी आकृति पशुकी आकृतिसे भिन्न होती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आकृति भी पशुकी आकृतिसे भिन्न होती है। यदि चेतनको बाह्य प्रकृतिका परिणाम माना जाय तो विभिन्न प्रकारकी आकृतियोंकी बाह्य प्रकृति भिन्न होनेके साथ उनके अन्तर्गत चेतनाके स्वभावमें भी विभिन्नता होनी चाहिये। परन्तु वस्तुतः विभिन्न चेतनकी बाह्य प्रकृतिका रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनके आभ्यन्तरमें एक ही मूल तत्त्व सिद्ध होता है। यह सिद्धान्त श्रीयुत जगदीशचन्द्र बसुने अपने वैज्ञानिक प्रयोगोंद्वारा निश्चित किया है। उनके यन्त्रसे मनुष्य अथवा उद्भिज्जमें प्रतिघात (Impact) करनेसे उसका प्रतिफल (Response) उस यन्त्रद्वारा जो लेखके आकार (Curves) में प्रकट होता है, वह दोनोंमें एक ही प्रकारका रहता है, भिन्न प्रकारका नहीं; इससे सिद्ध है कि एक व्यापक चेतन सब प्रकारकी प्रकृतिमें वर्तमान है और वह प्रकृतिसे स्वतन्त्र है।

इंजिनियरोंका अनुभव है कि कभी-कभी इंजिनमें कोई दोष न रहनेपर भी वह चलनेमें रुकता है, परन्तु वह रुकावट उसे विश्राम देनेसे अपने-आप दूर हो जाती है। इससे सिद्ध होता है

कि लोहेमें भी चेतन है और उसमें थकावट होती है। दूसरी यह है कि इंजिनमें अधिक गड़बड़ी आनेपर यदि उसे गंगाज धोया जाता है और उसके पीपेमें (Boiler) गंगाजल भर दि जाता है तो वह उतनेहीसे ठीक हो जाता है, इससे सिद्ध है लोहेमें केवल चेतनता ही नहीं, बल्कि गंगाजलकी पवित्रता प्रभाव भी उसपर पड़ता है।

मेरा निजी अनुभव है कि जिस वृक्षके फलमें कीड़े हो जा उसकी डाली गंगाजीमें डाल देनेसे कीड़ोंका होना बन्द हो जाता

परलोकगत आत्मा

पाश्चात्य देशके बड़े-बड़े विद्वान् जैसे सर विलियम क्रु सर ओलिवर लाज, स्वर्गीय सर कोआयनन, 'रिव्यू आफ रि तथा 'बार्डरलैण्ड'के प्रसिद्ध सम्पादक मिस्टर स्टेड आदि प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा ज्ञात हुआ है कि मृत्युके बाद भी जीवा रहते हैं, तथा वे इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत करते संवाद भेजते हैं, एवं वे ऐसी-ऐसी घटनाओंका वर्णन करते हैं लोगोंको बिल्कुल मालूम नहीं होतीं, परन्तु अन्वेषण करने सर्वथा सत्य सिद्ध होती हैं। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है

प्रोफेसर मायर (Myer) अपने बृहत् ग्रन्थ 'Hum Personality' में, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुई है, अ विश्वसनीय प्रमाण देते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मरनेके जीवात्मा वर्तमान रहता है तथा वह इहलोकके जीवोंके स बातचीत कर सकता है। लन्दनकी आत्मिक अनुसन्धान-समि

(Psychical Research Society) ने भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें प्रमाण संग्रहकर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की है, इस समितिके सदस्य प्रायः ख्यातनामा विद्वान् और आचार्य हैं ।

पूर्वजन्मकी स्मृति

विभिन्न देशके बालकोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतिके अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं, जो अनुसन्धान करनेपर सत्य सिद्ध हुए हैं । अनेक बालक बिल्कुल बाल्यावस्थामें गान-विद्या अथवा गणितमें आश्चर्य-जनक निपुणता प्रदर्शित करते हैं, जिनका होना पूर्वजन्मके माने बिना सम्भव नहीं है ।

संकल्प आकारका कारण होता है । प्राणिविज्ञानने एक अत्यन्त क्षुद्र कीटका पता लगाया है, उसे Amoeba कहते हैं । कीटवर्गमें उसे आदिजन्तु कह सकते हैं । उसके भीतर एक ही अवयव होता है जिसके द्वारा वह भोजन करता, चलता-फिरता तथा मलत्याग आदि समस्त कर्म करता है । जब वह चलना चाहता है तो उस अवयवको बाहर निकालता है और उसे पैर बनाकर चलने लगता है, फिर विश्राम लेते समय उसे भीतर समेट लेता है । जब वह भोजन करना चाहता है तो उसी अवयवको बाहर निकालकर मुख बनाकर भोजन करने लगता है । और मलत्याग करते समय उसी अवयवको बाहर निकाल, गुदा बनाकर मलत्याग करता है । अनेक बार विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ करते समय वही एक अवयव पाँच प्रकारकी आकृति धारण करता है । इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है

क्योंकि इसके द्वारा सिद्ध होता है कि प्रकृति इच्छा (चेतन) अधीन है न कि चेतन प्रकृतिके अधीन ।

सार्वभौम सुव्यवस्था

विश्वमें समस्त कार्य सुन्दर नियमोंके द्वारा सुव्यवस्थित दि पड़ते हैं । ऋतुएँ अपने समयपर आती हैं, ग्रह सदा अपनी क ही भ्रमण करते हैं; इत्यादि घटनाएँ बिना सञ्चालक और संच कर्त्ताके कैसे सम्भव हो सकती हैं ? इसका एक और उ प्रमाण यह है कि बर्फके स्फटिक (Crystal) में जो रेखागणि बड़े-बड़े आकारोंके समान उत्तम-उत्तम आकार बने रहते जिनकी रेखाएँ आदि इस प्रकार नियमितरूपसे खिंची रहतीं तथा वह ऐसी सूक्ष्म और बृहत् होती हैं कि जिनका बि कम्पासके बनना असम्भव-सा जान पड़ता है, इससे भी ईश्वर सत्ता सिद्ध होती है ।

बुद्ध और जैन-सम्प्रदाय

बुद्धने अपने जीवनमें कहीं भी यह नहीं कहा कि 'ई नहीं है ।' बौद्ध-सम्प्रदायमें ईश्वरका नाम 'अवलोकितेश्वर' है बुद्धके समयमें कर्मपर विशेष जोर देना आवश्यक था, इसलि उन्होंने यह उपदेश दिया था कि वर्तमान जीवन अतीतका कर्मोंका फल है और वर्तमानकालके कर्मोंका परिणाम भविष्य मिलेगा । बुद्धके इस सिद्धान्तकी सत्यतामें किसीको संदेह नहीं हो सकता है ।

जैनधर्म भी अन्तिम कारणस्वरूप एक पदार्थको मानता है और यही वेदान्तशास्त्रका ब्रह्म है।

प्राचीन निरीश्वरवाद

प्राचीन निरीश्वरवादका मूल कारण उपनिषदोंमें मिलता है। असुर विरोचन ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञानकी शिक्षा लेने जाता है। परन्तु वह उनके उपदेशको उलटा ही समझता है और देहको ही आत्मा मान लेता है।* पीछे विरोचनकी यही भावना असुरोंके तत्त्वज्ञानका मूल आधार बन गयी। यही कारण है कि असुर लोग यज्ञका विरोध करते थे जिसके परिणामस्वरूप देवासुरसंग्राम होते थे। और असुर लोग असत्य पथका अवलम्बन करनेके कारण सदा ही पराजित होते थे।

यही निरीश्वरवादका सिद्धान्त असीरिया (Assyria) देश (असुरोंका देश), बैबिलन (Babylon), इजिप्ट (Egypt) आदि देशोंमें प्रचलित था, जिसके द्वारा ये देश पार्थिव उन्नतिमें इतने आगे बढ़ गये थे कि पाश्चात्य देशकी सभ्यतामें कोई अबतक वहाँतक नहीं पहुँच सका है। देहात्मवादसिद्धान्तके कारण ही इन लोगोंमें मुर्दोंको गाड़नेकी प्रथा थी। इजिप्ट (मिश्र) देशवाले तो अपने मुर्दोंको बहुत ही सुन्दर मकानमें रखकर बंद करते थे तथा उनके पास भाँति-भाँतिके बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र, अन्न-पान आदि भोगकी अनेक सामग्रियाँ रखते थे। पुरातत्त्ववेत्ताओंने उन

---

* 'उपनिषदोंके चौदह रत्न' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें विशेष वर्णन देखिये।

मृतकोंकी कोठरियोंको खोलकर यह पता लगाया है कि वे थे
अत्यन्त ही समृद्धिशाली तथा कला-कौशलमें बहुत ही प्रवीण थे
परन्तु प्रकृति नश्वर है, संसार विनाशी है, इसमें कुछ भी स्थायी न
रहता। इसीसे ये देश पार्थिव उन्नतिके उच्चतम शिखरपर चढ़कर
आज पूर्णरूपेण नष्ट हो गये हैं। उनकी सभ्यताका अब जगत
नाम-निशान भी न रहा। कारण स्पष्ट है। उन लोगोंने के
बाह्य प्रकृतिको ही **'यत्परो नास्ति'** समझा और आत्मा-परमात्मा
अस्तित्वको भी नहीं माना। इसीलिये उनके जीवनका एकमा
लक्ष्य पार्थिव उन्नति ही रहा। अतः उनकी सभ्यता इस पार्थि
वादपर अवलम्बित होनेके कारण पूर्णरूपेण विनष्ट हो गयी औ
भारतकी आर्य-सभ्यता परमात्मतत्त्वपर अवलम्बित होनेके कार
करोड़ों वर्षोंसे अक्षुण्ण चली आ रही है।

अतएव हमलोगोंको कदापि पाश्चात्य देशोंकी पार्थि
सभ्यताकी क्षणिक चमक-दमकमें भूलकर अपनी सभ्यता त
इसके चरम लक्ष्य ईश्वरको न त्यागना चाहिये, नहीं तो अप
सभ्यताके नष्ट होते ही मिश्र आदि देशोंके समान हमारा
सर्वनाश हो जायगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वर्तमा
कालमें आधुनिक पाश्चात्य पार्थिव सभ्यताके नाशके लक्षण दी
पड़ते हैं और विवेकी पुरुष अपने ग्रन्थों और लेखोंद्वारा इसक
चेतावनी जगत्को दे रहे हैं। भारतवर्षके निवासियोंको पाश्चात्
देशोंके नास्तिकवादका खण्डनकर तथा आस्तिकताका प्रचारक
अपना और उनका कल्याण करना चाहिये। स्वयं इस सर्वनाश

नास्तिकवादमें पड़कर नष्ट होनेकी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिये ।

नास्तिकवाद समाजध्वंसकारी है

नास्तिकवाद समाजका विध्वंस करनेवाला है । क्योंकि नास्तिकवादी आगन्तुक दुःखको सहन नहीं कर सकते, केवल वर्तमान जीवन ही उनका सर्वस्व होता है, वे मरणान्त-जीवनमें विश्वास नहीं करते । दूसरी बात यह है कि नास्तिक तात्कालिक परिणामको ही मुख्य मानते हैं उसके अदृष्ट भविष्यपर वे विश्वास नहीं करते । इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी कोई असहनीय दुःख आ पड़ता है तो वे उसे सहन न कर उसके निवारणके लिये आत्मघात कर बैठते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि शरीरके नाशके साथ जीवनका अन्त हो जाता है और फिर कोई आत्मा-जैसी वस्तु नहीं रह जाती । इसीसे वे आत्महत्याकर दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं, वे इस बातको नहीं समझते कि शरीरके नाश हो जानेपर भी जीवात्मा रहता है । दुःखकी बात है कि अमेरिका आदि उन्नत कहलानेवाले देशोंमें इस प्रकारकी आत्महत्याकी संख्या बड़ी भयानक रीतिसे बढ़ रही है, नास्तिकताके विषाक्त परिणामोंका यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है । नास्तिकवादके प्रचारका एक अन्य भयानक परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसीके जीवनकी परवा नहीं करता तथा किसीकी हत्या करनेमें तनिक भी संकोच नहीं करता । आजकलकी राजनीतिक तथा अन्य प्रकारकी हत्याएँ इसीके परिणाम हैं । यूरोपका महासमर

इसी प्रकारकी एक हत्याके कारण हुआ था। हत्या ही क्यों, आजकलकी बढ़ती हुई चोरी-डकैती भी इसी नास्तिकताका परिणाम है जिनमें शिक्षित कहलानेवाले लोग भी प्रमुखरूपसे भाग लेते जा रहे हैं। नास्तिकताके प्रचारके यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम हैं—'आगे-आगे देखिये होता है क्या ?'

कल्पित आस्तिकता

यह संसार परमात्माका व्यक्त शरीर है, अतः ईश्वरकी ओर अग्रसर होनेकी पहली सीढ़ी भी यही है। इसलिये जो मनुष्य ईश्वरके शरीरभूत जगत्के प्राणियोंका आदर नहीं करता, बल्कि उनकी उपेक्षा करता है, उनके प्रति द्वेष करता है और उनका उपकार न कर सदा उनकी हानि ही करता है, वह ईश्वरमें विश्वास रखते हुए भी यथार्थरूपसे आस्तिक नहीं कहला सकता और न वह जीवनमें यथार्थ आत्मिक उन्नति ही कर सकता है। ईश्वरकी मुख्य पूजा है संसारके प्राणियोंकी सेवा और सहायता करना। आजकल आस्तिक लोगोंके प्रति इसी कारणसे घृणा की जाती है कि वे सदा प्रायः अपने स्वार्थ-साधनमें ही प्रवृत्त रहते हैं, तथा उसके लिये दूसरोंकी हानि करनेसे भी नहीं हिचकते। परोपकारमें प्रवृत्त होना तो इनके लिये दूरकी बात होती है। ऐसे पुरुष वचनसे आस्तिक होनेपर भी कार्यरूपसे नास्तिक होते हैं।

यथार्थ आस्तिकता

यथार्थ आस्तिक वेही हैं जो संसारके प्राणिमात्रको भगवान्का रूप समझते हैं, तथा उनकी सेवाको श्रीभगवान्की मुख्य सेवा

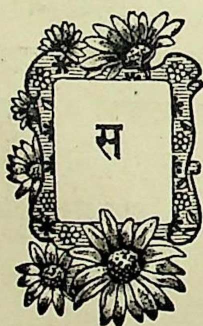
और पूजा मानकर दुःखित और आर्त्त प्राणियोंकी सहायतामें प्रवृत्त रहते हैं, तथा देश और समाजके यथार्थ कल्याणके साधनमें सदा योग देते हैं। ऐसे सज्जन साधकके ऊपर श्रीपरमात्माकी कृपा होती है और वह भक्तकी श्रेणीमें गिने जा सकते हैं। मानव-जीवनका यही परम लाभ भी है।

यदि नास्तिक भी सदा-सर्वदा लोकोपकारके कार्यमें निःस्वार्थ-भावसे प्रवृत्त रहे तो उसे भी आस्तिक समझना चाहिये। परन्तु आपत्ति इसमें यही होती है कि ईश्वरमें अविश्वास होनेके कारण ऐसे पुरुष कालान्तरमें स्वार्थपरायण हो जाते हैं, तब उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिससे हानिप्रद कार्यको ही वे उत्तम समझकर करने लगते हैं और अपनी तथा औरोंकी हानि करते हैं।

धर्म और नीतिकी भित्ति परमात्मा और उसके ईश्वरीय नियम हैं, जिससे यह संसार चल रहा है। जो इनको नहीं मानते हैं वे चाहे कितना भी प्रयत्न करें, कालान्तरमें उनसे भूल होगी और स्वार्थवश होकर वे धर्म और नीतिका उल्लंघन करेंगे। अतएव आस्तिकता अर्थात् ईश्वरके अस्तित्व तथा ईश्वरीय नियमोंमें विश्वास करना एवं तदनुकूल आचरण करना, सब प्रकारकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण है।



ईश्वरका अस्तित्व



त्यके बिना संसारका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ईश्वर सत्यस्वरूप हैं; इसी कारण संसारमें सत्यकी महत्ता है। अतएव सत्यके माननेवालेको ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये। संसारके अधिकांश कार्योंमें दूसरोंसे जिज्ञासा करनी पड़ती है। जैसे मनुष्य किसी स्थान, व्यक्ति, मन्दिर, जलाशय आदिकी जिज्ञासा दूसरे मनुष्यसे करता है। विद्या, कला-कौशल आदिकी शिक्षामें मनुष्यको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होती ही है। पुस्तकोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी दूसरे मनुष्यके

द्वारा ही लिपिबद्ध (लिखा हुआ) किया होता है। इस प्रकार देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सहायताके ऊपर अत्यन्त अवलम्बित होता है। और वे सहायक मनुष्य जो मार्गप्रदर्शक, शिक्षक अथवा लेखक होते हैं, अपनी मतिके अनुसार सत्यका ही व्यवहार करते हैं, और उनके उस सत्य व्यवहारपर विश्वास करके ही संसारका कार्य चलता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि संसारका सञ्चालन सत्यके द्वारा ही होता है।

इस सत्यका मूल आधार ईश्वर है। यदि सत्यका अस्तित्व न रहे तो जिज्ञासा करनेपर किसीको या तो कुछ उत्तर ही न मिलेगा या यदि मिलेगा भी तो अन्यथा, जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्यका अभीष्ट सिद्ध न होगा और परस्परमें अविश्वास बढ़ने लगेगा, (जैसा कि नास्तिकवादसे होना सम्भव है) अविश्वासके बढ़नेसे द्वेष बढ़ेगा और तब संसारमें बड़ी अशान्ति मच जायगी। अतः सत्यका अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है और सत्य ही ईश्वर है।

ईश्वरका दूसरा गुण है त्याग। ईश्वरके त्याग (यज्ञ) से ही यह विश्व बना है और सञ्चालित हो रहा है। अर्थात् असीम ईश्वर अपनेको अपनी मायासे सीमाबद्ध करके स्वयं संसाररूप हो अपनी शक्तिसे इसको सञ्चालित कर रहा है। अतः संसारमें मनुष्यके लिये त्याग करना प्रधान धर्म है। व्यवहारमें धर्म और नीतिका बर्ताव किया जाता है, इनके बिना संसारमें व्यवहार चल ही नहीं सकता है। यह धर्म और नीति त्यागके ही रूपान्तर हैं, अतः सिद्ध हुआ कि त्यागका अस्तित्व आवश्यक है। उसी प्रकार त्यागगुण-

सम्पन्न ईश्वरको मानना परमावश्यक है । यदि ईश्वरको न मा जायगा तो मनुष्य निस्सन्देह पशुवत् हो जायगा, क्योंकि पशुओं ईश्वरके ज्ञानका अभाव होता है । परिणाम यह होगा कि फि मनुष्य निपट स्वार्थी होकर पशुके समान आचरण करने लगेगा पशुवत् बलवान् होकर वह अपने सुखके लिये निर्बलोंका ना करेगा, तथा उसकी सम्पत्ति हरणकर उसे भोगेगा । जो उस बलवा मनुष्यसे भी अधिक बलवान् होगा वह उसका नाश करेगा । इ प्रकार यह त्याग-जगत् पशु-जगत् बन जायगा ।

सबके परमपिता अथवा परम कारण ईश्वरको मानकर इ नातेसे मनुष्य आपसमें भ्रातृभावका सम्बन्ध रखते हैं तथा उस अनुसार एक दूसरेकी सहायता करते हैं । ऐसा न हो तो फि यह संसार ही न चले । ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास न होनेपर ए मनुष्य दूसरेकी किस ज्ञान और सिद्धान्तके बलपर सहायता करेगा सहायता तो दूर रही वह अपनी पुष्टिके लिये दूसरेकी हानिकी चेष्टामें लगा रहेगा ।

फिर नास्तिकताका प्रचार होनेसे ईश्वर और उसके न्याय मनुष्यका विश्वास न रहेगा और तब पाप-पुण्यकी भावना भी संसारसे उठ जायगी । परिणाम यह होगा कि चोरी, डकैती, परस्त्रीगमन, हत्या, गृहदाह, मादकता आदि दुष्कर्मोंकी अधिकाधिक वृद्धि होती जायगी, क्योंकि इनके द्वारा तात्कालिक लाभकी आशा होती है । फिर तो कोई दूसरेकी हानिकी कुछ परवा ही नहीं करेगा, जिससे पाप कर्मोंमें कोई भी रुकावट न रह जायगी । सब-के-सब मनुष्य

येन केन प्रकारेण अपने ही जीवनके सुखको बढ़ानेके उद्योगमें लगेंगे। और तब यह जगत् पशु-जगत्से भी अधिक हीनतर अत्याचारमयी अवस्थाको प्राप्त हो जायगा।

नास्तिकवादके प्रचारसे भविष्यत्-जीवनमें विश्वास न रहनेके कारण लोग मृत्युसे बहुत ही डरेंगे और उससे बचनेके लिये अनेक अत्याचार करेंगे। तथापि जब मरनेका समय आवेगा तो वे बहुत ही घबड़ायेंगे, जीवनभर पापमें रत रहनेके कारण अन्तकालमें उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होगी, अतः बड़ी ही कठिनाई और दुःखसे उनका प्राणान्त होगा। आजकल भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जीवनमें अधिक पाप करता है, मरनेके समय उसे महाकष्ट होता है और व्यथासे व्याकुल होनेके कारण उसका ऊर्ध्व श्वास बहुत अधिक समयतक चलता रहता है एवं माँगनेपर भी उसकी मृत्यु जल्द नहीं होती। इस प्रकारका कष्ट संसारमें प्रबल वासना होनेके कारण ही होता है और नास्तिकोंके लिये तो यह संसार ही उसका सर्वस्व होता है।

पशु-जगत्की सृष्टि प्रकृतिके अनुसार हो सकती है क्योंकि पशु प्रकृतिका अनुगमन करते हैं, परन्तु मनुष्यके लिये यह बात नहीं। यद्यपि मनुष्यका शरीर अन्नसे पलता है तथापि वह केवल फलाहार या पयाहारसे शरीरको सुरक्षित रख सकता है और रखता भी है। यही क्यों, मनुष्य केवल वायुके आहारसे जीवित रह सकता

है। मैंने एक ऐसे व्यक्तिको देखा है जो महीनेमें केवल एक बा खाता है। मनुष्य इस जगत्का अन्तिम फल है।

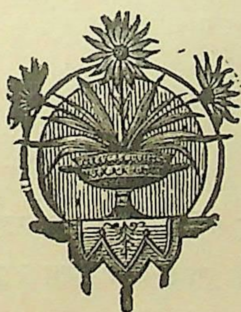
जहाँ देखा जाता है वहाँ वस्त्र, अन्न, गृह, बाग-बगीचे, पथ सवारी, जलाशय, शस्त्र, आभूषण, पात्र, पुस्तक आदि समस्त वस्तुएँ किसी-न-किसीके संकल्प, तथा उस संकल्पके अनुसा अध्यवसायसे बनती हैं। इनमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं जो बिन संकल्प या अध्यवसायके स्वयमेव बन जाय। ऐसी अवस्थामें यह कब सम्भव हो सकता है कि ऐसा बृहत् और विचित्र संसा बिना किसी संकल्पकर्ता और अध्यवसायीके बन गया हो?

दिव्य घटनाएँ

इसके अतिरिक्त साधकके जीवनकी अनेक दिव्य घटनाएँ ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं। अच्छे साधक पुरुष तो अपने जीवनकी अलौकिक दिव्य घटनाको प्रकाशित नहीं करते क्योंकि इससे अहंकार और अभिमानकी अभिवृद्धि होती है। तथा इन दिव्य अनुभवोंके प्रकाशित करनेसे इनका होना भी बंद हो जाता है। इसीलिये दिव्य अनुभवोंका कहना और सुनना दोनों अविहित माना जाता है। संसारमें द्रव्य-प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है, परन्तु यह कितनोंका अनुभव है कि अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर जब द्रव्यकी नितान्त कमी होती है और उसकी प्राप्तिका कोई

उपाय नहीं रह जाता तो अकस्मात् उस अभावकी पूर्ति हो जाती है जो भगवान्‌की कृपाके विना असम्भव है ।

इसके अतिरिक्त संसारमें ऐसे पुरुष भी हैं जिनको भगवान्‌के अवतार तथा अदृश्य महात्माओंके केवल दर्शन ही नहीं होते बल्कि उनसे साक्षात् बातचीत भी होती है । ऐसे महात्माओंका भी अभाव नहीं है जो नित्य श्रीभगवान् और महर्षियोंका दर्शन ही नहीं करते बल्कि उनके दिव्य रसमय आनन्द और शान्तिमय तेजपुञ्जका अनुभव भी करते हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषयमें शास्त्र 'मूकास्वादनवत्' कहकर चुप हो गये हैं ।



श्रीरामायणोपदेश

समाज और देशहित



रामावतारसे यह उपदेश मिलता है कि दे[illegible] का यथार्थ हित धर्मके प्रसारमें ही है। [illegible] लोगोंको एकमत होकर इसी महान् का[illegible] लग जाना चाहिये। असुरोंके असदाचा[illegible] देशकी परम हानि होते देखकर उन[illegible] दमन करना ही देशहितका प्रधान का[illegible] समझा गया था और इसीलिये भगवान[illegible] श्रीरामावतार हुआ था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने विश्वामित्रजीके [illegible] की रक्षाके लिये उनके साथ जाते समय स्पष्ट ही कहा था—

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः॥

(वा० रा० १। २६।

गो, ब्राह्मण और देशके हितके लिये आप-जैसे अभ्रान्तकी आज्ञानुसार मैं सावधानीसे देश-शत्रुओंका वध करूँगा। इस प्रकार भगवान् श्रीरामका शस्त्र-धारण केवल धर्मकी रक्षा और अधर्मके विनाशके लिये ही था। इस देशहितकर आयोजनकी सिद्धिके लिये देव, मनुष्य और वनवासी रीछ-वानरादि तकने एकमत होकर प्रयत्न किया। शास्त्रके अनुसार, केवल मनुष्य ही समाजके अन्तर्भुक्त नहीं हैं, पशु-पक्षी और वृक्षादि स्थावरोंका भी उसमें स्थान है। मनुष्यसमाजमें सभी वर्णोंके लोग शूद्रपर्यन्त उस समय आदरणीय थे। कोई भी नीच नहीं समझा जाता था। यज्ञोत्सवके समय लोगोंको निमन्त्रण देनेके सम्बन्धमें आदेश देते हुए महर्षि वशिष्ठने सुमन्त्रसे कहा था—

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः॥
समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान्।
(वा० रा० १। १३। २०-२१)

'सभी देशोंके हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको सम्मानके साथ बुलाओ।' प्राचीन कालमें लोगोंमें इतना अधिक प्रेमभाव था कि परस्पर मिलनेके समय जड वृक्षादिके सम्बन्धमें भी कुशल-प्रश्न पूछे जाते थे। इससे सिद्ध होता है कि उन स्थावर जीवोंको भी समाजमें स्थान प्राप्त था। महाराज विश्वामित्र महान् तेजस्वी वशिष्ठसे वृक्षोंकी कुशल पूछते हैं—

तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत॥
विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे तदा।
सर्वत्र कुशलं प्राह वशिष्ठो राजसत्तमम्॥
(वा० रा० १। ५२। ४-५)

इसी प्रकार श्रीवशिष्ठ और भरतने महर्षि अगस्त्यसे शरी और शिष्योंके साथ ही अग्नि एवं पशु-पक्षी तथा वृक्षोंकी कुशल पूछी थी—

वशिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥

रामावतारमें रघुवंशके गुणोंका पूर्ण विकाश

रघुवंशमें कहा गया है—

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

(१ । ७-८)

अर्थात् 'रघुवंशी त्याग या परोपकारके लिये ही ऐश्वर्य रखते थे । सत्यकी रक्षाके लिये कम बोलते थे । कमनीय कीर्तिके लिये ही विजयकी कांक्षा करते थे । सन्ततिके लिये ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे । बाल्यकालमें विद्याध्ययन करते थे । केवल यौवनावस्थामें ही धर्मसे अविरुद्ध विषयोंका सेवन करते थे । वृद्ध होनेपर मुनिव्रत धारण करते और अन्तमें योगके द्वारा शरीरका परित्याग कर देते थे ।' भगवान् श्रीराममें इन दिव्य गुणोंका पूर्ण विकास था । इसीका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है ।

त्याग

महाराज दशरथके द्वारा श्रीरामराज्याभिषेकका निश्चय किये जानेपर सम्पूर्ण अयोध्यामें परमोत्सव हो रहा है । आनन्दसागरकी

उत्ताल तरंगोंकी तुमुल ध्वनि पूर्णिमाके सागर-तरंग-गर्जनके तुल्य है। घर-घर मंगल-बधाइयाँ बँट रही हैं। सभी लोग अभिषेकका उत्सव देखनेके लिये उत्साहित हैं। ऐसी स्थितिमें वहाँ एक ही भवन ऐसा है जहाँ शान्तिका साम्राज्य छाया है, किसी प्रकारका व्यर्थ कोलाहल नहीं है, उपवासव्रत-सहित स्तुतिपाठ और जप जारी है। यह वह आलय है, जहाँ राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी राजकुमारी श्रीजनकनन्दिनीजीके साथ दैन्यभावसे कठिन राज्य-शासनके गुरुतर भारको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रार्थनामें प्रवृत्त हैं। इसी अवसरमें माता कैकेयीके प्रासादसे बुलाहट आती है और श्रीराम तत्काल वहाँ उपस्थित होकर अपने पूजनीय धर्मात्मा पिताको शोकविकल स्थितिमें भूमिपर पड़े देखते हैं और विनम्रताके साथ माता कैकेयीसे पिताके शोकका कारण पूछते हैं। कैकेयी स्पष्ट कह देती है कि 'महाराजने पूर्वकालमें मुझे दो वरदान देनेके लिये प्रतिज्ञा की थी, आज मैंने उनकी पूर्तिके लिये एक वरसे तुम्हारे राज्याभिषेकके लिये संगृहीत सामग्रियोंके द्वारा भरतका रत्नालंकारविभूषित होकर राज्यसिंहासनारूढ़ होना और दूसरेसे तुम्हारा चीर-वल्कल-जटा-धारणपूर्वक मुनिव्रतसे चौदह वर्षके लिये वनमें वास करना माँगा है। मैंने महाराजसे ये दोनों वरदान स्वीकृत करवा लिये हैं और उनकी यही आज्ञा है।'

एक राज्यसुखाभिलाषी विविध आशाओंसे युक्त अधिकारप्राप्त युवकके लिये यह आज्ञा महान् भयानक दण्डसदृश है, परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रके परम शान्त, स्थिर और सुसमाहित वदन-

कमलपर, जिसको राज्याभिषेकके भावी सुखकी आशा हर्षोत्फु[ल्ल] नहीं कर सकी थी, इस आज्ञाको सुनकर भी किञ्चित् भी क्षो[भ] शोक और उद्वेगकी दिखावटी रेखा भी नहीं खिंची । श्रीभगवान[ने] परम प्रसन्नभावसे समता और धीरताके साथ अनायास ही कहा [—] 'माता ! सहर्ष आज्ञाका पालन किया जायगा ।'

बाल्यकालमें ब्रह्मचर्यव्रतपालनके समय श्रीभगवान्‌ने गु[रु] वशिष्ठके द्वारा नामरूपात्मक प्राकृतिक संसारकी असारता [और] क्षणभंगुरता एवं आत्माकी ही सच्चिदानन्दरूपतारूप दिव्य ज्ञान[को] प्राप्त कर लिया था । वे वैराग्य और त्यागकी उस उच्चतम सीमा[पर] पहुँचे हुए थे कि आज राज्यसिंहासनके बदले वनवासकी आकस्मि[क] आज्ञा, राज्यभोगके स्थानमें भिक्षाटनकी विपत्ति उनके नित्य प्रशा[न्त] और प्रसन्न चित्तको तनिक भी विचलित और दुःखित नहीं क[र] सकी । भगवान्‌ने **'समत्वं योग उच्यते'** को चरितार्थ क[र] दिखाया । इस समत्वका मानसमें क्या ही यथार्थ वर्णन है !

प्रफुल्लतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥

(रामचरितमानस अयोध्या॰)

सत्य

श्रीभगवान् आदर्श मातृ-पितृ-भक्त तो थे ही, साथ ही आ[प] आदर्श सत्यवादी थे, आपने हँसी-मजाकमें भी कभी असत्य भाष[ण]

नहीं किया। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' की उक्ति लोकप्रसिद्ध है। असत्य तो दूर रहा, भगवान्ने कभी कटुभाषण भी नहीं किया—

न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।

सत्यके सम्बन्धमें भगवान्ने स्वयं कहा है कि 'हे सीता! मैं मुनियोंके समीप जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, उसे जीते-जी कभी भंग नहीं कर सकता, क्योंकि सदासे सत्य ही मेरा इष्ट है। मैं तुम्हारा, लक्ष्मणका और प्राणोंका भी परित्याग कर सकता हूँ किन्तु अपनी सत्य प्रतिज्ञाका परित्याग नहीं कर सकता।

(वा० रा० ३। ११। १७-१८)

क्षमा और तेज

जब राजा विश्वामित्रने अन्यायपूर्वक महर्षि वशिष्ठसे युद्ध करना चाहा तब वशिष्ठजीने युद्धको ब्राह्मणधर्मके विरुद्ध समझ अपने सामने एक ब्रह्मदण्ड गाड़ दिया, जिससे टकरा-टकराकर विश्वामित्रजीके ब्रह्मास्त्रपर्यन्त सभी शस्त्र व्यर्थ हो गये। इसपर उन्होंने क्षात्रबलको धिक्कारते हुए और ब्रह्मतेजके बलको सराहते हुए कहा था—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलंबलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

(वा० रा० १। ५६। २३)

यह ब्रह्मदण्ड यथार्थमें क्षमाका ही नाम है, जो इस क्षमाके दण्डको धारण करता है उसपर परिणाममें शत्रुके समस्त आघात व्यर्थ होते हैं। जिस समय ब्राह्मणकुलोत्पन्न श्रीपरशुरामजीने अन्याय-

के वशवर्ती हो धनुष-भंगके लिये भगवान्‌के प्रति व्यर्थ क्रो
प्रकट किया था और जब भगवान्‌ने उसके उत्तरमें बड़ी नम्रता
साथ क्षमाका बर्ताव किया था उस समय वह उग्र ब्रह्मतेज विन
क्षात्रतेजसे निरस्त हो गया और उसने अन्याय और क्रोधके कार
परशुरामजीका परित्याग कर दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि
सत्य, न्याय और क्षमा ही यथार्थ बल हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्
या शूद्र कोई भी क्यों न हो जिसके अन्दर ये गुण हैं वही यथा
बलवान् है। दण्डकारण्यके ऋषियोंने भगवान्‌से कहा था कि हम
लोगोंमें शापके द्वारा हत्यारे राक्षसोंके विनाश करनेकी शक्ति है
पर हमलोग उनके द्वारा भक्षण किये जानेपर भी उनका नाश
इसीलिये नहीं करते कि क्रोध करनेसे हमारे तपकी हानि होगी
जो हम किसी प्रकार नहीं चाहते—

बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरञ्चैव राघव॥
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः।

(वा० रा० ३। १०। १४-१५)

ब्रह्मचर्य

स्त्रियोंमें सर्वप्रथम अहल्याने ही गौतमवेषधारी इन्द्रके साथ
व्यभिचार किया था, जिससे इस प्रकारके दुष्कर्मके प्रचारभयसे
ही महर्षि गौतमने शाप देते हुए कहा—

अयं तु भावो दुर्बुद्धे यस्त्वयेह प्रवर्तितः।
मानुषेष्वपि लोकेषु गमिष्यति न संशयः॥

'हे दुर्बुद्धे! तुमने इस लोकमें जो यह गर्हितभाव प्रवर्तित

किया, तुम्हारे इस दोषके कारण मनुष्यलोकमें इस दुर्भावका विस्तार हो जायगा, इसमें कुछ संशय नहीं।' इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्तिके गुण-दोषका प्रभाव समाजपर पड़ता है। एकके दुष्ट कर्मको देखकर अनेक लोग दुष्ट कर्म करने लगते हैं और सुकर्मको देखकर सुकर्ममें प्रवृत्त होते हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी आदर्श गृहस्थ ब्रह्मचारी और एक-पत्नीव्रतमें रहते थे, इन्हींकी भाँति सीताजी भी आदर्श पतिव्रता थीं, इन दोनोंके समान कोई न हुआ न होगा। इसी कारण श्रीभग-वान्के द्वारा अहल्याका शाप-मोचन हुआ।

अनुकम्पा

श्रीभगवान्का सम्पूर्ण जीवन दयामय और परहितसम्पादनसे पूर्ण है। आपने अपने ऊपर अनेक कष्ट सहकर दूसरोंका हित किया। ऋषियोंकी यज्ञरक्षा, श्रीसीताजीके लिये गुरुकी आज्ञासे धनुषभंग, सत्यकी रक्षाके लिये वनगमन और लक्ष्मणत्याग, धर्मकी रक्षाके निमित्त राक्षसवध, पातिव्रतधर्मकी रक्षाके लिये सीतात्याग, वार्द्धक्यमें मुनिव्रतग्रहण और अन्तमें समस्त नगर-वासियोंको साथ लेकर परमधाममें प्रयाण आदि सभी कार्य त्याग-मूलक परोपकार हैं। श्रीभरतजीने यथार्थ ही कहा था—

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥

(वा० रा० २। १। ३८)

मेरे राम सब लोगोंकी हितकामना करनेवाले हैं। मे
भाँति चारों ओर दयाकी वृष्टि करके वे मेरी अपेक्षा भी लो
अधिक प्रियतम बन गये हैं।

इष्टदेवोंकी एकता

श्रीभगवान्‌ने स्वयं साक्षात् विष्णु होकर भी समुद्रके से
श्रीशिवजीकी स्थापनाकर यह सिद्ध कर दिया कि सभी इ
यथार्थमें एक ही हैं, भिन्न नहीं। अतएव किसी भी इष्टदे
निन्दा, अनादर एवं अवज्ञा करना पाप है। श्रीभरतजीने अप
श्रीरामके वनवास भेजनेमें कारण होनेके दोषसे मुक्त सिद्ध कर
लिये श्रीकौसल्याजीके सामने शपथ की थी—

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः॥

(वा० रा० २। ७५।

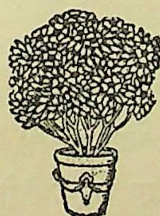
अपने इष्टदेवकी भक्तिके कारण जो अन्य इष्टदेवके अनुया
के साथ विवाद करते हैं और उनको निकृष्ट बतलाते हैं
लोगोंको जो पाप लगता है वही पाप मुझको हो, यदि मैं
श्रीरामके वनवासका कारण होऊँ।

रामराज्य

वाल्मीकीयरामायणके बालकाण्ड और रामचरितमान
उत्तरकाण्डमें रामराज्यके सुयशका विस्तृत वर्णन है। वहाँ कहा

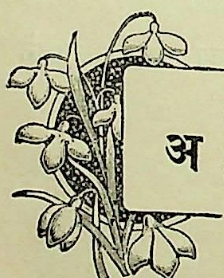
है कि सब लोग परम सुखी थे; रोग, शोक, आतंक, अकालमृत्यु, विपत्ति आदि बाधाएँ किसीको नहीं होती थीं। सब अपने-अपने धर्ममें रत थे, **'यथा राजा तथा प्रजा'**।

यही इस रामराज्यकी उत्कृष्टताका कारण था। सिद्धान्त यह है कि अधिपति अथवा नायकके आचरण और भावोंका उत्तम अथवा दुष्ट प्रभाव आश्रितोंपर अवश्य पड़ता है। अतएव देशके स्वामी, ग्रामके अधिपति, घरके मालिक, भृत्योंके प्रभु, समाजके नेता, धर्मके आचार्य, बालकोंके शिक्षक, ग्रामके पुरोहित और न्यायालयके शासक आदिके उत्तम आचरण और व्यवहारसे उनके आश्रित और सम्बन्धी उत्तम तथा निकृष्ट आचरण और व्यवहारसे निकृष्ट होंगे। समाजके हानि-लाभके लिये इनपर बहुत बड़ा दायित्व है। भगवान् श्रीरामचन्द्र इस दायित्वसम्पादनके परम आदर्श हैं। अतएव हम सबको श्रीरामराज्यका आदर्श अपने सामने रखना चाहिये।



सीतात्यागकी निर्दोषता

भ्रम



अनेक सज्जनोंको भी यह भ्रम है कि श्रीभगव रामचन्द्रके द्वारा सीतात्याग अनुचित हुआ वे मर्यादापुरुषोत्तम थे और इस अवतार मुख्य उद्देश्य मनुष्यसमाजके निमित्त आद चरित्रका प्रदर्शन करवाना था जिससे समाज लोग तदनुरूप आचरणका आदर्श रख उसीक अनुसरण करें। इस प्रकार इनका सारा-का-सारा चरित्र ईश्वरका सा न होकर मनुष्यका-सा था, क्योंकि उन्हें यह दिखलाना थ कि प्रत्येक मनुष्य उपयुक्त चेष्टा करनेसे वैसा आचरण कर सकत है। ऐसी स्थितिमें सीतात्याग अयुक्त कैसे हो सकता है?

शापस्वीकार

पुराणोंमें कथा है कि नारदजीने श्रीविष्णुभगवान्‌को विकृत मुखप्रदानके कारण क्रोधवश शाप दिया। उसके बाद क्रोधके शान्त होनेपर उन्होंने यह कहकर कि विशेष तेजस्वी व्यक्तिके द्वारा शापके स्वीकृत न होनेपर शापदाताका अनिष्ट होता है, श्रीभगवान्‌से अपनेद्वारा दिये हुए शापको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की। श्रीभगवान्‌ने शापको, जिसमें मुख्य स्त्रीवियोग था, सहर्ष स्वीकार किया। इस शापका तात्पर्य यह हो सकता है कि वह वनके समय तथा अन्तिम त्यागके समय—दोनों समयके वियोगके निमित्त लागू था।

कर्मफल अनिवार्य

कर्मका नियम ऐसा प्रबल है कि स्वयं श्रीभगवान् भी जब अवतार लेकर शरीर धारण करते हैं तो कर्मके नियमोंका स्वयं पालन करते हैं। यद्यपि भगवान्‌पर कोई कर्म लागू नहीं पड़ते। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—**‘उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।’** तथापि लोक-शिक्षार्थ आप ‘कर्मसिद्धान्त’को दृढ़ बनानेके लिये वैसी ही लीला करते हैं। कहते हैं कि प्रभासक्षेत्रसे महाप्रयाण होनेके समय श्रीकृष्णभगवान्‌को जिस व्याधने मृग समझकर बाण मारा था वह बालिका पुत्र अंगद था और उसीने उस रूपसे अपने पिता बालिके वधका बदला लिया। यहाँ यह बात विचारणीय है कि व्याधके द्वारा आहत होनेपर भी दयामय श्रीभगवान्‌ने उसके प्रति क्रोध न

कर उलटा उसको वर दिया। यह अटल नियम है कि जो सुख अथवा दुःख किसी देहधारीको होता है वह अवश्यमेव पूर्वकर्मोंका फल है। किसीको कोई ऐसा दुःख अथवा कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जो उसके पूर्वकर्मका फल न हो। स्मरण रहे कि दुःखरूप फल देनेका मुख्य उद्देश्य दुःख पाने को ज्ञानद्वारा दुष्ट कर्मसे निवृत्तकर उसका परम कल्याण करना न कि द्वेषसे उसकी हानि करना। अतएव जिसको दुःख जाता है वह हितकर ही है।

श्रीसीताशाप

पद्मपुराण-पातालखण्ड, अ० ५७ (रामाश्वमेधप्रकरण) ऐसी कथा है—एक बार श्रीजानकीजी किसी बागमें घूम रही तब उन्होंने शुक और शुकीके एक जोड़ेको आपसमें यह बात चीत करते सुना कि महाराज श्रीरामचन्द्रका श्रीसीतासे विवाह होगा और वे सुदीर्घ कालतक पृथिवीपर राज्य करेंगे। श्रीजानकी जीके कहनेपर उनकी सखियाँ उन पक्षियोंको पकड़कर श्रीजानकी जीके समीप ले आयीं। श्रीजानकीजीने उन पक्षियोंसे पूछा कि जिनके विषयमें तुम वार्तालाप करते थे वे श्रीराम और सीता कौन हैं और तुमने यह समाचार कहाँ सुना? पक्षियोंने उत्तर दिया कि हम दोनों श्रीवाल्मीकिके आश्रममें रहते थे। उन्होंने भविष्यमें होने वाले चरित्रको छन्दोबद्धकर अपने शिष्योंको पढ़ाया है, जिनसे हमलोगोंने यह सारा वृत्तान्त सुना है। इसके बाद उन पक्षियोंने रामजन्मसे लेकर धनुषभंग और विवाहतकका सारा वृत्तान्त कह

सुनाया। इसपर श्रीजानकीजीने कहा कि मैं ही सीता हूँ और तुमलोगोंको मैं तभी मुक्त करूँगी जब श्रीराम आकर मेरा पाणिग्रहण करेंगे और तबतक तुमलोगोंको मैं अपने यहाँ रखकर मधुर भोजन कराऊँगी।

इस बातको सुनकर पक्षी बड़े भयभीत और शोकाकुल हुए और जानकीजीसे कहने लगे कि 'हे सीता! हमलोग वनके रहनेवाले और स्वच्छन्द विचरनेवाले हैं, हमलोग घरमें सुखसे नहीं रह सकेंगे।' नर पक्षीने कहा कि 'मेरी भार्या गर्भवती है, इसलिये अभी हमलोगोंको छोड़ दीजिये, उसके बच्चा हो जानेपर हमलोग आपके पास आ जायँगे।' इसपर श्रीसीताजीने नर पक्षीको छोड़ दिया, किन्तु अनेक विनती करनेपर भी शुकीको नहीं छोड़ा। इसपर शुकीने श्रीसीताजीको शाप दिया कि जिस प्रकार तुमने मेरा पतिसे वियोग कराया है उसी प्रकार तुम्हें भी गर्भिणी रहनेकी अवस्थामें तुम्हारे स्वामी त्याग देंगे। यह कहकर अत्यन्त करुण विलाप करते हुए शुकीने प्राणत्याग कर दिया। इसपर शुकने भी दुःखित एवं क्रोधमूर्च्छित हो गंगामें गिरकर यह कहते हुए प्राणत्याग कर दिया कि 'मैं आगामी जन्ममें श्रीरामके नगरमें जन्म लेकर ऐसे वाक्यका व्यवहार करूँगा जिससे शुकीका शाप सत्य हो और सीताका रामसे वियोग हो।' उसी शुकने अयोध्यामें रजक होकर जन्म लिया, जिसकी निन्दाके कारण श्रीसीताजीका परित्याग हुआ।

× × ×

ईश्वरेच्छासे कर्मफल

कर्म स्वयं जड है; किन्तु इसका फल ईश्वरकी इच्छासे द्वारा लोगोंको मिलता है । रामचरितमानसका वचन है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फलु हृदय बिचारी ॥

कई कर्मोंके फल ऐसे होते हैं कि उनकी प्राप्तिमें जो सहायक का कार्य करते हैं वे केवल निमित्तमात्र होते हैं, अर्थात् कर्मसे प्रेरित होकर ये फलप्रदानमें निमित्तमात्र होते हैं, अतएव वे उसके लिये उत्तरदायी नहीं होते । महाभारत-अनुशासनपर्व, अध्याय में कथा है कि एक साध्वी स्त्रीके बालककी सर्पके डसनेसे मृत्यु होनेपर सर्प, मृत्यु और काल एक-एक करके उस साध्वीके तपोबलके कारण वहाँ आये और अन्तमें कालने यही निर्णय किया कि उस बालककी मृत्युमें न तो सर्प कारण है, न मृत्यु और न स्वयं काल ही कारण है, किन्तु उस बालकका पूर्वकृत कर्म ही कारण है, जिसके द्वारा उसकी मृत्यु ठीक काल आनेपर सर्पदंशद्वारा हुई । इसमें वे सब केवल निमित्तमात्र हैं, अतएव निर्दोष हैं । इस प्रकार श्रीसीताजीके त्यागका हेतु न भगवान् श्रीरामचन्द्र थे और न धोबी ही था, किन्तु पूर्वमें उनके द्वारा शुकीके बन्धनके कारण जो उनको पति-वियोगका शाप हुआ वही कारण था जिसका फल अवश्यम्भावी था । श्रीसीताजीने भी वनमें त्यागे जानेपर श्रीलक्ष्मणके प्रति अपने कर्मको ही अपने त्यागका कारण बताया—

भवांस्तत्याज तत्सर्वं मम दैवं तु कारणम् ।

अर्थात् इस त्यागमें दैव यानी मेरा प्रारब्धकर्म ही कारण है ।

लोकमर्यादा

श्रीभगवान्‌ने यह भी देखा कि रजककी निन्दा यद्यपि मिथ्या है, तथापि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

—के अनुसार सम्भव है कि ऐसी निन्दाके भ्रममें पड़कर वर्तमान अथवा भविष्यमें लोग विपरीत समझने लगें और स्त्रीके सतीत्वकी रक्षाकी परमावश्यकतापर स्त्री-पुरुष उसके कारण पूरा ध्यान न देकर उसके दोषको दोष न मान, धर्मसे च्युत हो जायँ, जिससे समाजका बड़ा अनिष्ट हो सकता है । इस भावी अनिष्टकी सम्भावनाको रोकनेके लिये श्रीभगवान्‌ने स्वयं कष्ट सहना और श्रीसीताजीको कष्ट सहन कराना ही उचित समझा । श्रीसीताजीके वियोगसे उनको श्रीसीताजीसे भी अधिक कष्ट हुआ । इस प्रकार समाजके हितके लिये दोनोंने परम त्याग किया । श्रीसीताजीने श्रीलक्ष्मणजीसे वनमें त्यागके समय स्पष्ट यही कहा कि मेरा त्याग समाजके हितके लिये श्रीभगवान्‌ने किया है—इस बातको मैं समझती हूँ और इसके निमित्त मुझे कोई अमर्ष नहीं है; बल्कि इस कार्यमें भगवान्‌के साथ योग देना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ—

यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः ।
मया हि परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः ॥

(वा० रा० उ० ४८ । १३)

बड़ोंकी तो इसीमें श्रेष्ठता है कि वे समाजके हितके नि अपने ऊपर कष्ट ले लेते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने अपने भाइ स्पष्ट कहा कि केवल समाजका हित ही श्रीसीतात्यागका का है, अतएव वह परमावश्यक है—

स्वयशः कारणोऽहं स्वं देहं त्यक्ष्यामि शोभनम्।
त्वामपि भ्रातरं त्यक्ष्ये लोकवादाद्विगर्हितम्॥

इस संसारकी उत्पत्ति-स्थिति भी परमेश्वर और उनकी श के परम त्यागका परिणाम है। यदि वे अपने अपरिच्छिन्न स्वरू लीलासे परिच्छिन्न न करें तो न संसारकी उत्पत्ति हो सकती और न स्थिति ही रह सकती है। अतएव मनुष्य अथवा ईश्व वतार दोनों दृष्टिसे सीतात्याग निर्दोष है।

शक्तिकी लीला

यद्यपि रामावतारमें श्रीसीताजी तथा श्रीभगवान् लोकशिक्ष मनुष्यों-जैसा व्यवहार करते थे किन्तु यथार्थमें वे ईश्वरीय श और ईश्वर थे। ऐसी अवस्थामें उनको सांसारिक लोगोंके स दुःखाभिभूत समझना ठीक नहीं है और यही समझकर हमलो श्रीभगवान्पर त्यागका दोष लगाते हैं। अध्यात्मरामायणमें श्रीसीत जी श्रीहनुमान्जीसे कहती हैं कि रामावतारके सारे कृत्य मैं किये, श्रीराम तो सच्चिदानन्द पूर्णातिपूर्ण परम कारण हैं। वे त साक्षीकी भाँति उनके द्रष्टा और आधारमात्र थे—

एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥

इस प्रकार श्रीराम और श्रीसीता स्व-स्वरूपकी दृष्टिसे सदा अभिन्न हैं और इन दोनोंका न कदापि वियोग हो सकता है और न वे शोकमग्न ही हो सकते थे, यद्यपि स्थूल शरीरकी दृष्टिसे मायाकृत वियोग उनके अन्दर भी दृष्टिगोचर होता है अथवा वे शोकसन्तप्त भी देखनेमें आते हैं, यह उनकी दिव्य लीला है ।

दुःखमित्र

एक और विचारणीय विषय इस सम्बन्धमें यह है कि हम-लोग किसी घटनाका विचार उसको स्वतन्त्र समझकर और उसके तात्कालिक परिणामकी दृष्टिसे करते हैं और उसके पूर्वापरके सम्बन्ध तथा दूरके परिणामपर दृष्टि नहीं डालते । इसीसे गलती होती है । ब्रह्मचारीके निमित्त शास्त्रने कठोर नियम निर्धारित किया है । वैद्य रोगीको उपवास कराते और कटु औषध देते हैं, डाक्टर क्षत आदिके रोगीके अंगोंकी चीर-फाड़ करते हैं । शिक्षक विद्यार्थीको उसके दोषके सुधारके लिये दण्ड भी देते हैं, तपस्वी उपवासादिद्वारा शरीरका शोषण करते हैं । इन सबमें तत्कालमें तो बाह्य दृष्टिसे, प्रकाशरूपमें कष्ट अवश्य है; किन्तु अन्तिम परिणाम इन सभी उदाहरणोंमें कष्ट पानेवालेका हित है, अतएव ये सारे-के-सारे दुःखद कर्म यथार्थमें सुखद और हितकर हैं । बाह्य दृष्टिसे श्रीभगवान् रामचन्द्रका वनगमन दुःखद समझा जाता है; किन्तु श्रीभगवान्‌ने उसे परम सुखद समझा, जैसा कि उनके कैकेयीके प्रति निम्नलिखित वचनसे प्रकट है—

× × ×

मुनिगनमिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु-आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥

भरतु प्रान-प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़-समाजा॥

स्मरण रहे कि ये वाक्य बनावटी न थे, क्योंकि श्री असत्य कभी नहीं बोलते थे—**'रामो द्विर्नाभिभाषते।'** यथार्थ सुख श्रीभगवान् रामचन्द्रको मुनिसेवित चित्रकूट, पञ्चवटी पुण्य-स्थानोंमें रहने और विचरण करनेसे मिला, जहाँ प्रकृ यथार्थ सौन्दर्य देखनेमें आता है, वैसा सुख अयोध्याकी राज पर कदापि सम्भव नहीं था। यदि श्रीभगवान् वनगमन नहीं तो उनका वनवासका परम पावन चरित्र, जिसके स्मरण मनुष्यका हृदय पवित्र हो जाता है, संसारको कैसे लब्ध और राक्षसोंसे मुनियों और सज्जनोंका त्राण कैसे होता प्रकार श्रीसीताजीको श्रीवाल्मीकिके आश्रममें रहनेसे जो अ यथार्थ एवं आन्तरिक शान्ति मिली होगी और वहाँ निरन्तर जाप, भजन, पाठ आदि दिव्य कृत्योंके सम्पादनके बीच मुनिपत्नी और शिष्योंसे वेष्टित रहनेसे उन्हें जो परमानन्द हुआ होगा उसका अनुमान केवल सांसारिक दृष्टिसे कैसे हो स है? यह निर्विवाद और सर्वसम्मत है कि स्त्री अपनी गर्भाव जैसी परिस्थिति और संसर्गमें रहती है और उनके कारण भावना उसके हृदयमें उत्पन्न होती है उसका विशेष प्रभाव शिशुपर पड़ता है। इसलिये यह तदनुरूप गुण और कर्मका लेकर उत्पन्न होता है, जो ठीक समयपर उसमें अवश्य प्रस्

होता है। इस प्रकार श्रीसीताजीके गर्भावस्थामें श्रीवाल्मीकिके आश्रम-में रहते हुए वहाँ सदा-सर्वदा योग, यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, ज्ञानोपदेश, शिक्षा, भजन, कीर्तन आदिके होते रहनेसे उनका जो प्रभाव श्रीसीताजीकी तदनुरूप भावनाके द्वारा उनके गर्भस्थ शिशुओंपर पड़ा वह अयोध्यामें कदापि सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त उनके बालकोंको जन्म लेते ही उस पवित्र आश्रमके वायुमण्डलमें रहनेका जो सौभाग्य और वहाँके पवित्र संसर्गका जो लाभ हुआ वह भी अयोध्यामें नहीं मिल सकता था। श्रीसीताजी-के कुमारोंको शिशुकालसे ही श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा परमोत्तम और परमावश्यक शिक्षाके प्राप्त करनेका जो सुअवसर मिला और जैसी उच्च कोटिकी शस्त्रास्त्रशिक्षा उनको वहाँ मिली, वह भी अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं थी। शस्त्रविद्यामें तो वे इतने पारंगत हो गये कि रामाश्वमेधके घोड़ेके रोकनेके लिये जो युद्ध हुआ उसमें उन दोनोंने हनुमान्, शत्रुघ्न आदि समस्त प्रधान वीरोंको अकेले ही परास्त कर दिया। यही नहीं, पहले अकेले लवने युद्ध किया, पीछे कुशने।

बाह्य वियोगसे परम मिलन

रामावतारकी लीला अध्यात्मरहस्यपूर्ण है। आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रीसीताजी ईश्वरके प्रिय अंश शुद्ध जीवात्मा हैं। जीवात्मा-के तीन भाव हैं—कारणशरीराभिमानी, सूक्ष्मशरीराभिमानी और स्थूलशरीराभिमानी। इनमें स्थूलशरीराभिमानीका वास नेत्रमें है, सूक्ष्मशरीराभिमानीका कण्ठमें और कारणशरीराभिमानीका हृदय-

× × ×

देशमें। परमात्माके साथ जीवात्माका मिलन तभी होता है वह प्रथम दशेन्द्रियरूप रावणके आधिपत्यसे मुक्त होकर स्थूल सूक्ष्ममें लय कर लेता है, सूक्ष्मका कारणमें और कारणका म कारण (तुरीय) में लय कर लेता है। जबतक श्रीभग (परमात्मा) श्रीसीताजी (जीवात्मा) के नेत्रगोचर थे तब जीवात्माका वास स्थूल शरीरमें था, जहाँ दोनोंका यथार्थ आध्या मिलन सम्भव नहीं है। वनमें त्यागे जानेपर जब श्रीभग श्रीसीताजीके नेत्रोंसे ओझल हो गये तब वे उनका सदा हृद ध्यान करने लगीं, अर्थात् स्थूल और सूक्ष्मका कारणमें लय हुआ कारणशरीरस्थ शुद्ध जीवात्मा जब अपने शुद्ध स्वरूपमें हृद स्थित होता है, तब उसका उसके अंशी अथवा प्रियाति परमात्मारूप पतिके साथ यथार्थ मिलन होता है। जैसी वियो प्रेमकी वृद्धि होती है वैसी संयोगमें नहीं होती——संयोगमें ह्रास सम्भावना रहती है। इसी नियमके अनुसार श्रीकृष्णभगवान् श्रीगोपियोंका वियोग हुआ और तभी उन लोगोंको श्रीभगवान् यथार्थ प्राप्ति हुई। इसी परम रहस्यको प्रकट करनेके लिये यह सीतात्याग हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह श्रीभगवान्‌के साक्षात् आध्यात्मिक स्वरूपमें श्रीसीताजी प समाधिस्थ होकर लीन हो गयीं।

इस प्रकार यदि सीतात्यागके नाना रहस्योंका विचार कि जायगा तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि श्रीसीतात्याग उचित हु और इसका परिणाम भी उत्तम हुआ।

श्रीकृष्णचरित्र

समदर्शिता



भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी थे; और उनकी समदर्शिताकी सीमामें केवल मनुष्यसमाज ही आता हो सो बात नहीं, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि सभीके लिये उसमें स्थान था। उन्होंने गौओंकी सेवाकर पशुओंमें भी भगवान्‌का वास दिखलाया। कदम्ब आदि वृक्षोंके तले वनमें विहारकर उद्भिज्ज-जगत्‌को प्रतिष्ठा दी, कालिन्दीमें किलोल कर नदियोंकी मर्यादाको बढ़ाया; और गोवर्धनगिरिकी पूजा करवाकर स्थावर-जगत्‌के महत्त्वको प्रदर्शित किया।

सेवा

भगवान् श्रीकृष्णके जीवनमें सेवाधर्म मुख्य रहा है। उन गोसेवा, मातृपितृसेवा, परिजनसेवा, मित्रसेवा, पाण्डवकु सेवा आदि प्रसिद्ध हैं और अन्तमें पाण्डवोंका दूत तथा अर्जुन सारथी बनना, उनकी ये दो सेवाएँ तो बिल्कुल अलौकिक थीं कहाँतक गिनाया जाय, अपने सेवाधर्मसे ही प्रेरित होकर उन्हों राजपाटतकका त्याग कर दिया।

विश्वमंगल

रासपञ्चाध्यायीमें गोपियोंने भगवान्के अवतारको जो 'विश्व मंगल' कहा है वह बिल्कुल ठीक है। इस प्रेमावतारमें सत्य, शि (कल्याण) और सुन्दर मधुरका बड़ा सुन्दर समावेश था पशुओंमें श्रेष्ठ पशु गौ, वाद्योंमें परमोत्तम मधुर वाद्य मुरली, वृक्षों सुन्दर वृक्ष कदम्ब, सरिताओंमें सुमनोहर सरिता यमुना, वस्त्रों भव्य पीताम्बर, आभूषणोंमें मनमोहन मयूर-मुकुट और शोभाश वनमाला—ये सभी सुन्दर योग थे। स्थान भी शोभाधाम व्रज भूमि थी, जहाँकी भाषा आजकल मधुरातिमधुर समझी जाती है। लीलाकालमें श्रीकृष्णभगवान्की किशोर वयस्, गोपबालकों सखामण्डली तथा उनका गोचारण आदि सभीका स्वाभाविक मे था। इस अनूठी लीलाके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णने कंस-वध जैसे जो अन्यान्य अनेक कार्य किये वे भी लोककल्याणके लिये ही किये। यही नहीं, बल्कि उन लोगोंके तामसिक शरीरका परिवर्तन करके स्वयं उन लोगोंका भी महान् कल्याण किया। भगवान

श्रीकृष्णने लोकहितके सामने अपने किसी स्वजनविशेषके हितको स्थान नहीं दिया। यदुवंशियोंके बुद्धि-विपर्यय हो जानेपर जब संसारके अनिष्ट होनेकी आशंका होने लगी तो उन्होंने स्वजनोंकी ममता भी भूल प्रभासक्षेत्रमें उनका भी विध्वंस करा दिया। महाभारतका जो महासमर हुआ था, जिसमें भयानक जनसंहार हुआ, वह भी लोककल्याणके लिये ही हुआ था। क्योंकि उस समयके राजाओंमें स्वार्थपरता और संकीर्णता बेहद बढ़ गयी थी, और इस दशामें यदि यह संग्राम न हुआ होता तो संसारका इतना अधिक अनिष्ट हुआ होता, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आदर्श कर्मयोगी

श्रीकृष्णभगवान्‌ने संसारको यह उपदेश किया कि कलियुगमें मुख्यतया ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो ही आश्रम रहेंगे अतएव उन्होंने अर्जुन, उद्धव, अक्रूर और गोपियाँ आदि गृहस्थ शिष्य-शिष्याओं-को ही अपना दिव्य ज्ञान बतलाया, किसी विरक्तको नहीं। भगवान्‌ने यह दिखलाया कि गृहस्थाश्रममें रहकर संसारके समस्त व्यवहारोंको करते हुए किस प्रकार भगवद्भक्तिकी तथा स्वयं भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। समस्त सांसारिक वस्तु, सम्बन्ध, कर्तव्य और कर्मोंको भगवान्‌के समझकर, ममत्व और अहंकारसे शून्य होकर कर्म करनेसे न केवल कर्मबन्धनसे मुक्ति मिलती है वरं इन कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की परम पूजा-अर्चना हो जाती है जिसके द्वारा अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि

महावीर अर्जुनने भगवान्‌के आदेशानुसार भगवान्‌के लिये अपने विचारको बदलकर सम्पूर्णरूपसे स्वार्थरहित निष्कामभावसे निमित्तमात्र बनकर महासंग्राममें अनेक वीर योद्धाओंका संहार कि

कहनेका मतलब यह है कि समस्त विधिविहित कर्म कि जायँ किन्तु वे किसी व्यक्तिगत हेतुकी सिद्धिके लिये नहीं, भगवा के लिये किये जायँ और भगवान्‌के सतत अविच्छिन्न स्मर साथ किये जायँ। कर्मके फलरूपमें सफलता हो या विफल इससे अपनेको क्या सरोकार? जैसे कर्म भगवान्‌का है कर्मफल भी भगवान्‌का है—हमें तो बस, भगवान्‌के हा यन्त्र बनकर केवल कर्म करना है। ऐसा न करनेसे तो वह क कर्ताका हो जायगा।

आदर्श कर्मयोगिनी गोपियाँ

गोपियाँ विरक्त नहीं थीं, वे अपने घरोंमें रहकर घ गृहस्थीके सभी धंधोंको करती थीं। परन्तु उनमें विशेषता य थी कि वे सब काम विधिपूर्वक करती हुई भी, श्रीभगवान्‌को ए क्षणके लिये भी नहीं भूलती थीं। उनके मनमें भगवच्चिन्तन मु था और सारे कार्य गौण! श्रीमद्भागवतमें कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०।४४।१

अर्थात् जो गोपियाँ गौओंको दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दधिमन्थन करते समय, लीपते समय, सोते बालकोंके झूलेको झटका देते समय, रोते बालकोंको चुप करते समय तथा बुहारी देते समय भी चित्तमें प्रेमयुक्त और गद्गदकण्ठ होकर इन भगवान् श्रीकृष्णका गान करती हैं; वे सब घरके सब काम-धंधे करती हुई भी भगवान् श्रीकृष्णकी ओर चित्तको लगानेवाली गोकुलकी स्त्रियाँ धन्य हैं।

वास्तवमें शुद्ध प्रेमका प्रमाण यही है कि सदा प्रेमपात्रकी तुष्टिकी चाह रखना और उसकी तुष्टिमें ही अपनी भी तुष्टि समझना एवं इसके सिवा प्रेमके बदलेमें किसी प्रकारके लाभकी चाह या परवा बिल्कुल न रखना। गोपियोंका यही आदर्श और सच्चा प्रेम था, जिसे देखकर उद्धवजीके मुखसे निकल पड़ा कि 'क्या ही अच्छा होता यदि मैं व्रजमें कोई लता-गुल्म हुआ होता। उस दशामें व्रजबालाओंके चरणकमलोंकी रज प्राप्त करनेका सुयोग तो मिलता।'

केवल उद्धव ही क्यों, स्वयं भगवान्ने भी गोपियोंके प्रेम और त्यागका वर्णन करते हुए अपने श्रीमुखसे यह कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

मेरी बहुत बड़ी आयु हो जाय तथापि मैं तुम गोपियो साधु कृत्यसे उऋण नहीं हो सकता, क्योंकि तुमलोगोंने सांसा कर्मसम्बन्धोंका उपयोग अपने किसी स्वार्थसाधनमें न करके मेरे अर्पण कर दिया है, जो अति दुष्कर है।

मुरलीका संगीत

भगवान् श्रीकृष्णकी मुरलीकी ध्वनि यथार्थमें नामरहि आदिनाम है जो संसारकी उत्पत्तिका कारण है और त्रिगुणोंसे पार होनेपर भक्त सुनता है। यही आध्यात्मि मुरलीध्वनि है।

अश्वत्थामा-वध

श्रीभगवान्ने सत्यवादी युधिष्ठिरके मुखसे अश्वत्थामा मरनेकी बात कहलाकर उनकी सत्यवादिताकी परीक्षा की पीछे उन्हें यह भी बतला दिया कि आप पूर्ण सत्यवादी नहीं हैं क्योंकि यदि आपके अन्दर असत्यका लेशतक न होता तो आ यह असत्यभाषण कदापि न कर सकते। भगवान् तो भीष्म आदि सभीको पहले ही मार चुके थे जैसा कि विराट्रूपमें उन्होंने अर्जुनको दिखलाया था; इसलिये यदि युधिष्ठिर असत्य भाषण न भी करते तो भी द्रोणाचार्यकी मृत्यु तो होती ही, पर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके अन्दर छिपे हुए असत्यांशको उनके सामने प्रकट कर दिया जिससे उन्हें पीछे अपने पुरुषार्थके द्वारा उसे दूर करनेका अवसर मि गया। यानी जब वह स्वर्गमें गये तो उन्होंने स्वर्गसे च्युत होनेके

भयसे अपने साथके कुत्तेका त्याग नहीं किया। किसी भी दोषका निवारण पुरुषार्थसे किया जा सकता है, पर दोषको बिना जाने पुरुषार्थ नहीं हो सकता इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने दयाकर युधिष्ठिरके अन्दरके छिपे हुए दोषका उन्हें परिचय करा दिया।

आदर्श गृहस्थ

श्रीमद्भागवतके वर्णनसे यह पता लगता है कि भगवान् श्रीकृष्ण आदर्श गृहस्थ थे। भागवत (स्कन्ध १० अ० ६९) में वर्णन आता है कि जब श्रीनारदजीके दिलमें यह प्रश्न उठा कि एक श्रीकृष्ण १६१०८ रानियोंके साथ कैसे गृहस्थी चला रहे हैं तो इसकी जाँच करनेके लिये वह द्वारका पहुँचे और भगवान्‌की एक-एक पत्नीके घरमें जाकर देखना शुरू किया। पर जिस घरमें वह पहुँचते थे, गार्हस्थ्यधर्ममें वहीं श्रीकृष्णको व्यस्त पाते थे। नारदजीने कहीं उन्हें आह्वानीय अग्निमें हवन करते देखा तो कहीं पञ्चमहायज्ञोंको करते हुए। वह कहीं सन्ध्योपासन कर रहे थे, तो कहीं ध्यानावस्थित होकर गायत्रीमन्त्रका जप। (इससे विदित होता है कि यह सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञादि कर्म गृहस्थके लिये मुख्य कर्तव्य हैं), कहीं ब्राह्मणोंको भोजन करा रहे थे, कहीं ब्राह्मणभोजनसे बचे हुए अन्नको ग्रहण कर रहे थे, कहीं गुरुओंकी सेवा करते थे, कहीं इतिहास-पुराणादि श्रवण कर रहे थे, कहीं धर्मका सेवन करते थे, कहीं अर्थका चिन्तन, कहीं आत्माका ध्यान और कहीं मन्त्रियोंसे प्रजाके कल्याणके लिये परामर्श कर रहे थे। कहीं विग्रह कर रहे

थे और कहीं सन्धिकी बातचीत। कहीं लड़के-लड़कियोंके जाति-क संस्कार करा रहे थे, कहीं उनके विवाह आदिका प्रबन्ध कर रहे थे और कहीं बाग-बगीचे और कूप-तड़ाग बनवा रहे थे। नारद उन्हें ये सब काम करते हुए देखा। भगवान्‌ने उनका पादप्रक्षाल करके चरणोदकको अपने सिरपर धारण किया और अपने इ व्यवहारसे यह सिद्ध किया कि भक्त भगवान्‌से बड़ा है। भगवान् नारदसे कहा—

ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता।
तच्छिक्षयंल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः॥

(श्रीमद्भा० १० । ६९ । ४०

अर्थात् हे नारद ! मैं शास्त्रद्वारा धर्मका उपदेशकर स उसका आचरण करनेवाला और उनके सम्बन्धमें सम्मति देनेवा हूँ। मेरे आचरणसे लोगोंको शिक्षा मिलेगी, इस खयालसे मैं इ धर्मका आचरण करता हूँ। हे पुत्र नारद ! मैंने जो तुम्हारे पै धोये, इससे तुम खेद मत करो।

श्रीराम तथा श्रीकृष्ण

इन दो अवतारोंमें कोई भी भेद नहीं है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय १२६ में लिखा है—

त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती ॥९८॥
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी ॥१००॥

श्रीभगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं कि 'हे राधे ! मिथिलामें तुम सीता हुई और सती द्रौपदी तुम्हारी ही छाया है। तुम्हीं श्रीरामचन्द्रकी भार्या होकर रावणके द्वारा हरण की गयी थी।

दोनों ही अवतारोंने वनवास किया और वनमें ही दोनोंकी विशेष विभूति प्रकट हुई। एकने अपने बालकालमें ब्राह्मणकी रक्षा की तो दूसरेने गौकी। दोनोंने ही धर्मद्वेषी राक्षसोंका नाश किया। दोनों माता-पिता और गुरुके परम भक्त थे। एकने एक स्त्रीव्रतके द्वारा ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा की तो दूसरेने अनेक स्त्रियोंसे आवेष्टित रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर रक्खा। एकने वन जाकर सत्यकी रक्षा की तो दूसरेने द्रौपदीके चीरको बढ़ाकर सत्यको बचाया। एकने दक्षिण दिशाके छोरपर शिवकी आराधना की तो दूसरेने उत्तरके छोरपर; एकने जनकनगरीमें विवाहोत्सव किया तो दूसरेने वृन्दावनमें रासोत्सव। दोनोंके नाममें केवल दो-दो अक्षर हैं। एकने धर्मरक्षाके लिये रावणके कुलका ध्वंस किया तो दूसरेने उसी उद्देश्यसे कौरवकुल तथा यादवकुलका संहार करवाया; एक मर्यादापुरुषोत्तम थे तो दूसरे विधिनिषेधके परे प्रेमावतार थे; एकने अपने मित्र सुग्रीवके शत्रुका स्वयं वध किया तो दूसरे युद्धमें अपने सखा अर्जुनके सारथी बने, एकने चरित्रका उपदेश दिया तो दूसरेने ज्ञानका। दोनों ही आदर्श कर्मयोगी थे और दोनों एक थे। संसारके सब व्यवहार करते हुए किस प्रकार धर्म-रक्षा करनी चाहिये और किस प्रकार धर्मार्थ कर्म करना चाहिये इन दोनोंने अपनी लीलाद्वारा—जीवनके दैनिक कार्यकलापद्वारा संसारको बतलाया। श्रीकृष्णोपासकको अपने चरित्रसुधारके लिये श्रीरामका चरित्र ध्यानमें रखना चाहिये और इसी प्रकार श्रीरामोपासकको प्रेमका आदर्श जाननेके लिये श्रीकृष्णके चरित्रका अनुशीलन करना चाहिये।

पवित्र व्रजलीला

भगवान् श्रीकृष्णके परम पुनीत प्रेमचरित्रमें व्र लीला मुख्य है। व्रजलीलामें अव्यक्त और प दुर्लभ प्रेमने व्यक्तरूप धारण किया था। प्रेमपथ घोर स्वार्थान्धकारसे परिच्छिन्न था, उसके कारण दृश्यमान हो गया।

प्रेमका स्वरूप

किसी अंशविशेषका अपने मूलकारणसे पृथक् होकर कि विजातीय वस्तुके साथ नाता जोड़ना ही असत्य, दुःखद, अस और अज्ञान है। परन्तु जब वह अंश अपनी इस भूलको सम जाता है तो फिर उसके अन्दर अपने मूल कारणके साथ मिलने

उत्कट लालसा उत्पन्न होती है और उसकी यह आभ्यन्तरिक लालसा ही यथार्थ प्रेम है जिसका स्वरूप सत्य, शिव और सुन्दर है। पर इस प्रेमराज्यकी प्राप्तिके लिये कुछ मूल्य अवश्य चुकाना पड़ता है और वह मूल्य और कुछ नहीं, यह है—विजातीयके संगका त्याग और अपने प्रेमपात्रके प्रीत्यर्थ अपने समस्त स्वार्थोंको प्रेम-यज्ञकी पावन प्रचण्ड अग्निमें स्वाहा करके अपने आपको उसकी सेवाके लिये सर्वथा समर्पित कर देना।

सच्चिदानन्द परमात्माका अंश जीवात्मा अपने परम कारण परमेश्वरको भूलकर असत्, जड और दुःखमूल प्रकृतिके भोग-विषयोंके साथ तन्मय हो गया है जो परमार्थकी यथार्थ दृष्टिसे प्रकृतिकी कृति होनेके कारण असत्य, अयोग्य और अज्ञान-मूलक हैं और इसीलिये परिणाममें दुःखदायी हैं। प्रत्येक जीवात्मा अपनी सांसारिक स्थितिसे प्रसन्नता लाभ न कर यथार्थ एवं स्थायी आनन्दकी खोजमें है; पर उसका अज्ञान यह है कि वह उस आनन्दको प्रकृतिके राज्यमें ही ढूँढ़ता फिरता है, जहाँ उसका सर्वथा अभाव है। हाँ, इधर-उधर भटक-भटकाकर सद्गुरु और इष्टकी कृपासे जब जीवात्मा उपर्युक्त प्रेमराज्यका मूल्य चुकानेको तैयार हो जाता है, तब वह उसका अधिकारी बनता है, यानी जब वह अनात्मप्रकृतिके भोगोंकी आसक्तिको विजातीय समझकर त्याग देता है और अपने मूल कारण परमात्मासे मिलनेके लिये परम लालायित हो उठता है और जब यह मिलन ही उसके जीवन-का एकमात्र उद्देश्य बन जाता है—श्रीभगवान्‌के लिये वह अपना

सर्वस्व सहर्ष समर्पण कर देता है तब यह समझा जाता है उसके अन्दर प्रेमका अंकुर उत्पन्न हुआ—वह यथार्थ प्रे अधिकारी बना ।

व्रजलीलामें प्रेम

व्रजलीला पवित्र प्रेमकी ही लीला थी । प्रेमयज्ञका मूर्तिमान्, अपूर्व और अनुपम अभिनय केवल मनोरञ्जनके नहीं हुआ था, यह संसारके कल्याणार्थ हुआ था, इसके भगवान्‌को सर्वसाधारणके सामने प्रेमका सच्चा और शुद्ध आ उपस्थित करना था । व्रजलीला या प्रेमलीलाके सूत्रधार भग श्रीकृष्णकी ओर सभी पात्र आकृष्ट थे । क्या बच्चा, क्या बूढ़ा, स्त्री, क्या पुरुष, यहाँतक कि पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, गिरि-कन्द सरिता-सरोवर, कूप-तड़ाग सभीका उनके प्रति अनूठा अनु था—पूरा खिंचाव था; क्योंकि वे सर्वात्मा थे, कहा है—

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ।

(श्रीमद्भा० १० । २१ । १

भगवान् श्रीकृष्णकी ओर सभी आकर्षित थे, पर देनेकी बात यह है कि इस आकर्षण (प्रेम) में किसीके अ किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं था, प्रत्युत सभी अपने समस्त स्वार्थ भगवान्‌के प्रेमानलमें स्वाहा कर उन्हें सन्तुष्ट करनेको लालायित थे । सब-के-सब स्वार्थसे शून्य और परमार्थसे ओत थे । यही क्यों, परमार्थ ही उनका एकमात्र स्वार्थ बन गया था

यानी कैसे श्यामसुन्दर उनसे सन्तुष्ट हों, कब मुरलीमनोहर अपनी मधुर मुसकान-सुधाका सिञ्चन करके उनकी प्रेमपिपासाको शान्त करें, कैसे करुणामय उनकी ओर करुणाकोरसे दृष्टिपात करें, कब भक्तवत्सल भगवान् उन्हें अपनी सेवाका संयोग प्रदान करें। कब अपना सर्वस्व–प्राणपर्यन्त श्रीभगवान्‌के कार्यमें निछावर कर दिया जाय। माता, पिता, सखा, परिजन, बन्धु, गोप-गोपी सभीकी एकमात्र यही एक प्रबल अभिलाषा थी!

उनका प्रेम यहाँतक खरा था कि इसकी समय-समयपर परीक्षा भी हो जाया करती थी। और इस परीक्षाका एक उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इन्द्रपूजाका विरोध है। व्रजवासी भली-भाँति जानते थे कि इन्द्र मेघराज हैं, बराबर होती आ रही उनकी पूजाको यकायक बन्द कर देना अनिष्टको न्योता देना है। हम-लोग इन्द्रका अपमान करें और हमारी कोई आर्थिक क्षति न हो, यह असम्भव है। पर यह सब समझते-बूझते हुए भी उन्होंने भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया—सारे स्वार्थ एक ओर और भगवान्‌की आज्ञाका पालन एक ओर! व्रजवासी इस प्रेम-परीक्षामें उत्तीर्ण हुए!

गोपीभाव

अत्युच्च शुद्ध निर्हेतुक भगवत्प्रेमका सच्चा और पूर्ण आदर्श व्रजबालाएँ हैं। श्रीनारदसूत्र* का वचन है—**'यथा व्रजगोपिका-**

---

* नारदभक्तिसुत्र व्याख्यासहित 'प्रेम-दर्शन' नामसे गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित हो चुका है, ।≈) मूल्य है। मँगाकर पढ़ना चाहिये।

नाम्' (२१) ये गोपिकाएँ अपने पूर्वजन्ममें प्रायः जीवन्मु
वस्थामें थीं और इनका जो व्रजभूमिमें आगमन हुआ था,
केवल अपनी जीवनलीलाद्वारा शुद्ध और पुनीत प्रेमको सं
सामने प्रकट करनेके लिये ही हुआ था। पद्मपुराणके पा
खण्डके ७४ वें अध्यायमें इन गोपियोंके सम्बन्धमें यों लिखा है-

एताः श्रुतिगणाः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा ॥ १०३॥

व्रजकी गोपियाँ वास्तवमें श्रुतियाँ और मुनिगण थे।
गोपियोंके प्रेममें वैषयिक कामोपभोगका लेश भी नहीं था।

श्रुतियाँ या मुनीश्वर न मानकर भी यदि साधारण दृष्टिसे ही वि
करें तो वैषयिक सम्बन्ध असम्भव ही सिद्ध होता है। कारण,
लीलाकालमें जहाँ भगवान्‌की आयु कुल दस वर्षकी थी,
गोपियाँ प्रायः पुत्रवती, युवती थीं। इस विषम अवस्थामें वि
सम्बन्धकी कल्पना करनेकी गुंजाइश बिल्कुल नहीं है। वा
गोपीप्रेम और मिलन जीवात्मा (गोपी) और परमात्मा (श्रीकृ
का परस्पर रमण और मिलन था, न कि स्थूल शरीरों
श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीमें स्पष्ट है कि गोपियाँ भगवान् श्रीकृ
को पूर्णब्रह्म परमेश्वर समझती थीं। भागवतके दशम स्कन्धमें
वें अध्यायके श्लोक ३१, ३२ और ३३ में गोपियोंने भगव
लिये 'ईश' और 'ईश्वर' शब्दोंका प्रयोग किया है। उ
भगवान्‌से स्पष्ट कहा है कि हमलोग संसारसम्बन्धी स
विषयोंका त्यागकर मुमुक्षुजनोंकी भाँति आपके चरणकम
सेवाके लिये आयी हैं; क्योंकि आप सचराचर सबके परम

ष्ठान, नियामक एवं परम प्रिय आत्मा हैं और इसलिये आपकी सेवासे सबकी सेवा और सब धर्मोंका पालन हो जाता है।

साधनाकी आरम्भिक अवस्थामें भगवान्‌के किसी दिव्य अंशके प्रति यानी माता, पिता, पति, प्रभु, आचार्य, मित्र, हितोपदेष्टा, स्त्री, पुत्र आदिके प्रति स्नेह किया जाता है और जिसे निस्स्वार्थभावसे पूर्ण करनेपर यह ज्ञान हो जाता है कि वे सब लोग यदि प्यारे हैं तो केवल इसी कारण प्यारे हैं कि इनमें भगवान्‌का सर्वदा वास है, और किसी कारणसे नहीं। और ऐसा ज्ञान होनेपर जब वह स्नेही अपने स्नेहको सर्वाधार भगवान्‌की सेवाके निमित्त अर्पित करता है, तभी वह स्नेह सच्चा प्रेम बन जाता है। गौतमीय तन्त्रका वचन है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येते वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

अर्थात् श्रीगोपियोंका पवित्र प्रेम ही 'काम' के नामसे प्रसिद्ध हुआ, इसीलिये श्रीभगवान्‌के कृपापात्र श्रीउद्धवादि महात्मागण भी इस गोपीप्रेमकी वाञ्छा करते थे। किसी अंशविशेषके साथ प्रीति करनेसे यथार्थ शान्ति और यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अंश स्वयं परिवर्तनशील है। यदि यथार्थ और स्थायी शान्ति तथा आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है तो एकमात्र परम कारण विभु परमेश्वरके प्रति प्रेम करनेसे ही। श्रुति कहती है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
(छान्दोग्य० ७। २३)

शाण्डिल्यसूत्रका वचन है—

प्राणित्वान्न विभूतिषु ॥ ५० ॥

यानी प्राकृतिक प्राणीके नश्वर होनेके कारण विभूति(
द्वारा भक्तिका लाभ नहीं हो सकता ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि गोपीरमणका अर्थ
पवित्रात्माका अपने परम कारण प्रियातिप्रिय सर्वात्मामें आध्या
स्थिति लाभ करना और उनकी सेवामें प्रवृत्त होना था ।
पञ्चाध्यायीके निम्नलिखित वाक्योंसे इस अध्यात्मभावका स्पष्ट
लगता है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥

(श्रीमद्भा० १० । २९ ।

इस प्रकार उन गोपियोंकी शरणागतिसूचक प्रार्थना सुन
प्रत्येक आत्माके साथ रमण करनेवाले योगेश्वरेश्वर श्रीभगवा
गोपियोंके साथ आत्मरमणकी लीला की, अर्थात् उनके आत्मा
को स्वीकारकर उन्हें एकत्वभाव प्रदान किया ।

यहाँ श्रीभगवान्के लिये 'योगेश्वरेश्वर' शब्दका व्यवहार
स्पष्ट प्रकट करता है कि यह रमण गोपियोंके परा भक्तियो
आध्यात्मिक परिणाम था । नीचेके श्लोकसे, जो गोपियोंकी
है, बिल्कुल स्पष्टरूपसे यह प्रकट हो जाता है कि गोपियाँ
भगवान्को सर्वान्तरात्मा समझती थीं और अपनेको भक्तिमा
अनुगामिनी मानती थीं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ४)

अर्थात् हे सखे ! तुम निस्सन्देह यशोदाके पुत्र नहीं हो, किन्तु सकल प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षी साक्षात् परमेश्वर हो । वही परमात्मा तुम ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर जगत्की रक्षाके निमित्त यादवोंके कुलमें अवतरित हुए हो; इसलिये तुम्हारा भक्तोंकी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है, अतः तुम हमें दर्शन दो ।

रासलीला

एक मुख्य केन्द्रके आकर्षणके अनुसार उसके चारों ओरके गतिमान् आश्रितोंकी जो ठीक गति होती है उसे रास कहते हैं । जैसे सौर-जगत्में सूर्य केन्द्र है; उसके आसपास ग्रहों और उप-ग्रहोंकी मण्डली है जो अपने केन्द्र सूर्यके आकर्षणानुसार अपनी विशेष गतिसे गतिमान् हैं । उनकी यह गति उनकी रासलीला है । यह रासलीला शान्तिपूर्वक होती है । इसमें एक ग्रहका दूसरे ग्रहके साथ अथवा स्वयं सूर्यके साथ टकरानेका योग आना बिल्कुल असम्भव है, जिसका खटका किसी-किसी पाश्चात्य विद्वान्को कभी-कभी हो जाया करता है । सौर-जगत्की ही भाँति मनुष्यके अन्दर भी रासलीला हुआ करती है । मनुष्यके शरीरमें उसका हृदय केन्द्र है और विभिन्न अंग उससे शक्ति-लाभ करते हुए समग्र

शरीरकी रक्षाके लिये अपने-अपने जिम्मेके जो काम बजाते यह भी एक रासलीला है। इसी प्रकार विश्वरूप वृत्तमें भगव श्रीकृष्ण परम केन्द्र हैं, प्रकृति इसकी परिधि है और जीवात्मा नाना रेखाएँ हैं, जो केन्द्रसे निकलकर परिधिकी ओर गयी है इन जीवात्माओंका प्रकृतिकी ओर जाना प्राकृतिक लीला है जीवात्मागण इस प्राकृतिक चक्रमें पड़कर अपनेको तथा अ केन्द्रको बिल्कुल भूल गये हैं। पीछे ज्ञानके द्वारा उनकी आ विस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मारूप सरल रेखाएँ परिधि त्यागकर अपने केन्द्रके आकर्षणसे आकृष्ट होकर केन्द्रकी आती हैं। यह अपने केन्द्रकी ओर आना ही विश्वकी आध्यात्मि रासलीला है। यह 'रासलीला' नित्य होती है। इसी नित्य रा लीलाका अभिनय व्रजमें रसोत्सवके रूपमें किया गया, यह अभि गोपीरूप जीवात्माओंका अपने परम कारण परमात्मरूप श्रीकृष्ण साथ युक्त होना था। यह आत्मा और परमात्माका मिलन था न कि दो स्थूल शरीरोंका। इसलिये इस रासलीलामें प्रवेश करने का उसीको अधिकार है, जिसने प्राकृतिक नानात्वकी वासना औ ममता तथा अपने अहंभावरूप पुरुषभावको सर्वथा त्याग दिया है और अपनी आत्माको श्रीभगवान्‌की शक्तिमात्र मानकर उनकी दी हुई यह वस्तु उनको समर्पण करनेके लिये सदा लालायित रहता है। यही गोपीभाव है। इस गोपीभावमें पगे हुए अपने भक्तके बिना भगवान्‌को चैन नहीं पड़ता और जब यथासमय वह आह्वान करते हैं, तब दोनोंका मिलन होता है, जिसे 'रासलीला' कहते हैं। इस रासलीलाको भगवान् श्रीकृष्णने भविष्यत्‌के भक्तों

के हितार्थ बाह्य रूपमें भी अभिनय करके दिखलाया, जिसमें गोपियाँ आत्मसमर्पणकी मूर्ति थीं और भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परमेश्वर थे। यह आत्मा और परमात्माका मिलन बाहरमें बाँह पकड़नेके समान है, जिससे दोनों युक्त हो जाते हैं। जैसे श्री-भगवान्ने रासलीलामें गोपियोंके हाथोंको अपने हाथमें लेकर उनसे नृत्य कराया यानी उन्हींके द्वारा सारी गोपिकाएँ सञ्चालित होती थीं, वैसे ही समर्पितात्मा भक्तकी सारी चेष्टाएँ और क्रियाएँ श्री-भगवान्के द्वारा ही सञ्चालित होती हैं। जैसे श्रीभगवान् नचाते हैं उसे वैसे ही नाचना पड़ता है। समर्पितात्मा सेविका केवल एक यन्त्रकी भाँति बन जाती है, दोनों एक न हो जानेपर भी भाव-गति सब एक हो जाती हैं, इससे उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, स्वतन्त्र क्रिया नहीं रहती; भगवान् उसका निमित्त-रूपसे, विश्वलीलामें विश्वहितार्थ यन्त्रवत् उपयोग करते हैं। यही रासलीलाका यथार्थ भाव और रहस्य है।

गोपियोंकी भगवान्की प्राप्तिके लिये जो तपस्या थी, उसकी सिद्धि इस रासोत्सवद्वारा हुई और यह रासोत्सव ऐसा परम पवित्र अद्भुत समझा गया था कि इसे देखनेके लिये अनेक देव, गन्धर्व आदि आये और देखते-देखते आनन्दमें भरकर दुन्दुभि-वादन और पुष्पवृष्टिके साथ भगवान्का यशगान करने लगे। यदि यह रासोत्सव कामाचार होता तो क्या यह कभी सम्भव था? साधारण-सी बात है, पिता पुत्रीका चुम्बन करता है, माता पुत्रको प्यारसे छातीसे लगा लेती है, इसमें क्या कोई दूषित भावना होती है? व्रजलीलामें हुई ऐसी ही चेष्टाओंका यदि उनके

हेतुकी दृष्टिसे विचार करें, जो बिल्कुल उचित है, तो उनमें दोष नज़र नहीं आयेगा और 'काम' शब्दका भी तो यथार्थ शुद्ध प्रेम ही है। श्रीभगवान्‌में सृष्टिकी उत्पत्तिका जो संकल्प हुआ, उसे भी 'काम' संज्ञा दी गयी है—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । (तै० २ । ६)

शब्दकल्पद्रुममें लिखा है—

कामस्तु ब्रह्मणो हृदयाज्जातः ।

इसी कारण श्रीविष्णुका नाम स्मरगुरु अर्थात् कामगुरु प

रासमें प्रवेश करनेकी साधना

(१) *विषयवैराग्य*—जैसे गोपियाँ अपने पति-पुत्रादिके द्वा भगवान्‌की सेवामें आनेसे रोकी जाकर भी न रुकीं और उन्हें भगवान्‌के लिये अपने स्वजनादिका सहर्ष त्याग कर दिया वैसे ही जो-जो पदार्थ भगवत्-प्राप्तिमें बाधास्वरूप हैं, उन सबका त्या करना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही सम्पूर्ण ममत्व एवं अहंकार त्यागकी भी महती आवश्यकता है।

(२) *सतत स्मरण और कीर्तनद्वारा तन्मयता*। जैसे कि—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३० । ४३

गोपियोंने श्रीभगवान्‌में अपने मनको संलग्न किया। परस्पर श्रीकृष्णकी ही वार्ता करती थीं (कीर्तन—**'बोधयन्तः परस्प**

रम्'—गीता १०।९। सदा भगवान्‌को प्रसन्न करनेकी चेष्टा करती थीं। उन्होंने भगवान्‌में अपने आपको आत्मभावसे तन्मय कर दिया था और उनके दिव्यगुण गानमें मग्न होकर घर-बारका भी स्मरण छोड़ दिया था। जो व्यक्ति इस प्रकारकी साधना करना चाहता है, उसके लिये भक्तोंके सत्संगसे लाभ उठाना और उस लाभको दूसरेमें वार्तालाप, कीर्तन आदिके द्वारा वितरण करना परमावश्यक है; क्योंकि यह भगवान्‌की मुख्य सेवा है। इस परमावश्यक साधनाकी ओर लोगोंका बहुत कम ध्यान है, जो एक प्रधान बाधास्वरूप है।

(३) *ध्यान*—इसके ४४ वें श्लोकमें है कि गोपियाँ श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं—'**कृष्णभावनाः।**' यह ध्यानसाधना एक मुख्य और आवश्यक साधना है।

(४) *स्तुतिद्वारा अर्चन*—इसके बाद गोपियोंने श्रीभगवान्‌की स्तुति की। स्तुति-प्रार्थनामें बड़ा बल है। अन्तःकरणसे निकले हुए स्तुतिके सच्चे शब्दोंसे बड़ा ही लाभ होता है।

(५) *आत्मक्रन्दन*—यह आत्मक्रन्दन उनकी अन्तिम साधना थी, जिससे भगवान् प्रकट हुए। इस आत्मक्रन्दनका वर्णन यों है। शुकदेवजी राजा परीक्षितसे कहते हैं कि—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यो प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१)

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन (मिलन) की अत्यन्त

लालसासे गोपियाँ भगवान्‌का यशगान (कीर्तन) करती हुई औ पारस्परिक वार्तालापद्वारा हृदयानुराग प्रकट करती हुई अत्ये सुन्दर स्वरसे क्रन्दन करने लगीं । उनका यह क्रन्दन बाह्य क्रन्द नहीं, किन्तु अन्तरात्माका क्रन्दन था जो ऐसी अवस्थाका द्योतक है, जब कि अन्तरात्मामें ऐसा प्रगाढ़ प्रेमानुराग आ जाता है, जब अपने प्रियतमके मिलन और उसकी स्वरूप-सेवाके बिना रहन उसके लिये असम्भव हो जाता है । जैसे मछली बिना पानीके नहीं रह सकती, वैसे ही जीवात्मा भी अपने प्राणप्रिय परमात्मासे मिले बिना नहीं रह सकता । आखिर गोपियोंको भगवान्‌के दर्शन हुए, जो इस प्रकारकी साधनावस्थाका अवश्यम्भावी परिणाम है ।

इसके बाद इस साधनामें राधाभाव तथा महात्यागभाव आदि आते हैं जो अत्यन्त आवश्यक हैं ।

राधाभाव

राधाभावमें उपासक और उपास्यमें प्रेमाधिक्यके कारण एकरूपता हो जाती है । यही कारण था कि भगवान् श्रीकृष्ण राधाजी हो जाते थे और श्रीराधा श्रीकृष्ण बन जाती थीं। इस प्रकारका परिवर्तन परम स्वाभाविक है । उदाहरणस्वरूप गर्गसंहिताका यह श्लोक है—

श्रीकृष्णकृष्णेति गिरो वदन्त्यः
श्रीकृष्णपादाम्बुजलग्नमानसाः ।
श्रीकृष्णरूपास्तु बभूवुरङ्गना-
श्चित्रं न पेशस्कृतमेत्य कीटवत् ॥

(२ । १८ । १४)

श्रीभगवान्‌के नामका स्मरण करती-करती और उनके चरण-कमलोंमें चित्तको लगाये हुए गोपियाँ श्रीकृष्णरूप हो गयीं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि छोटा कीट भयसे बड़ेका चिन्तन करते-करते उसीके समान हो जाता है। कहा है—

राधा भजति श्रीकृष्णं स च तां च परस्परम्।

(ब्रह्मवैवर्तपु० प्रकृतिखण्ड ४८। ३८)

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिगरीयसी॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी उपासना करती हैं और भगवान् श्रीकृष्ण राधाकी उपासना करते हैं। गोपिकाओंमें श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठ थीं; क्योंकि यह स्वयं महाभावस्वरूपिणी थीं। एक बार महाराज श्रीकृष्णके पाद-पंकजोंमें छाले देखकर उनकी अन्य रानियोंने उनसे पूछा कि ये छाले कैसे पड़ गये? भगवान्‌ने कहा कि तुम लोगोंने श्रीराधाको गर्म दूध पिला दिया था जिससे मेरे पैरोंमें छाले पड़ गये, क्योंकि मेरे ये चरण सदा-सर्वदा उनके हृदयमें रहते हैं। यथा—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्द्धं न चलत्यतीव॥

अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम् ॥
(गर्गसंहिता द्वारकाखण्ड १७ । ३५-३६)

श्रीभगवान्के चरणकमलोंको निष्काम सेवाके उद्देश्यसे अपने हृदयमें सर्वदा धारण करनेसे भगवान् उसके प्रेमपाशसे अवश्य ही बँध जाते हैं !

महात्याग

अन्तिम सातवाँ भाव महात्यागका है, जिसमें भगवान्की सेवाके लिये निर्वाणपद तकका त्याग कर दिया जाता है। और यह निस्स्वार्थ लोकहित ही भगवान्की यथार्थ सेवा है। विशेष तपश्चर्यापूर्वक विश्वका उपकार करनेसे ही इस महात्यागभावकी प्राप्ति होती है और तब ऐसा भक्त संसारके कल्याणार्थ श्रीभगवान्के अवतारके रूपमें जगत्में प्रकट होता है। ऐसे भक्तके जन्मको भगवान् अपना जन्म मानते हैं और इस कारण उसके अस्तित्वका कभी लोप नहीं होता।

चीरहरण

चीरत्यागका अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान्को केवल शुद्ध आत्मा अर्पित होती है, मनुष्यकी तीन उपाधियाँ या उसका जड

शरीर त्रिगुणात्मक होनेके कारण विकारवान् है अतः वह समर्पित नहीं हो सकता । इन उपाधियोंकी आसक्तिको त्यागकर जीवात्माकी अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिति होती है, तभी वह ईश्वरके निकट जानेके योग्य होता है; इसके बिना नहीं । भगवान्के पास तो केवल नंगे होकर अर्थात् केवल शुद्ध आत्मा बनकर जानेसे ही आत्मार्पण स्वीकृत होगा और उनसे मिलन हो सकेगा, अनात्म-उपाधियोंके प्रति कामासक्ति बनाये रखनेसे नहीं; क्योंकि यह सब आवरण है और आवरण धारण किये रहनेपर ठीक-ठीक मिलना सम्भव नहीं। फिर शरीरको आत्मा मान बैठना घोर अज्ञान है । ज्ञान तो इससे सर्वथा भिन्न अपने आपको आत्मा मानना है । नंगे होनेकी लज्जा, श्रीभगवान्का साक्षात्कार होनेपर भी उसीको होगी जो अपनेको आत्मा न मानकर शरीर मानता है; और भगवान्को भी सच्चिदा-नन्द न मानकर केवल एक शरीरधारी मनुष्य समझता है । वास्तवमें बाह्य आकार-प्रकारादि अयथार्थ हैं—केवल आभ्यन्तरिक आत्मा ही 'सत्' है । इसी ज्ञानको दृढ़ करनेके लिये भगवान्ने गोपियोंसे नंगी होकर अपने पास आनेको कहा । फिर भगवान्की दृष्टिमें तो सभी अंग समान हैं । भक्तका एक यह भी लक्षण है कि वह भगवान्की आज्ञाका पालन बिना किसी सोच-विचारके तुरन्त करे । अपनी इच्छा-अनिच्छा या उचित-अनुचित किसी बातका विचार करना उसके लिये कर्तव्य-च्युत होना है । इस चीर-हरणकी लीलासे भगवान्ने इस लक्षणके अनुसार भी गोपियोंकी

× × ×

परीक्षा ले ली, नहीं तो उनके लिये जैसी वस्त्रयुक्ता गोपियाँ वै
ही विवस्त्रा ।

कुब्जाविचार

भगवान्‌से सम्बन्धित होनेपर विषयासक्ति भी शुद्ध हो
पवित्रतम रूप धारण कर लेती है । कुब्जा भी श्रीभगवान्‌के द
और उनके प्रति प्रेम करनेसे सुधर गयी । इस कुब्जासम्ब
कोई भी कामसम्बन्ध नहीं था । भगवान् उसके घर गये औ
उसे यह ज्ञानदान किया कि जीवात्मा यदि एक बार ठीक तरह
ईश्वरोन्मुख हो जाय तो फिर उसके पिछले पाप भगवान्‌की प्राप्ति
बाधा नहीं डाल सकते । उलटे भगवान् पापोंको नष्ट कर देते है
कहा है—

सनमुख आव जीव मोहि जबहीं । कोटि जनम अघ नासौं तबहीं॥

शरणागतके पापोंका नाश करनेकी प्रतिज्ञा भगवान
गीतामें की है, यहाँ उसी प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य किया गया
गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(९ । ३०

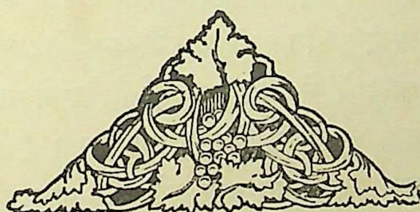
इस इन्द्रियातीत श्रीकृष्णप्रेममें केवल ब्रह्मचारीका ही अधिकार

इस गोपीप्रेमका अनुसरण केवल ब्रह्मचारी कर सकता है।

विषयासक्त पुरुष कदापि नहीं कर सकता ।* यह व्रजलीला ऐसी पावन लीला है, जिसमें योगदान करनेसे मनुष्यके हृदयकी कलुषित वासनाका नाश होकर वह जितेन्द्रिय बन जाता है, जैसा कि रासपञ्चाध्यायीके अन्तिम श्लोकमें बतलाया गया है। वह श्लोक यह है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ४०)



* गृहस्थ भी इसके अधिकारी हैं, पर वे ही जो गार्हस्थ्य-धर्मानुसार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हैं और इन्द्रियोंको सर्वथा जीते हुए हैं।

शक्ति-उपासनाकी सर्वव्यापकता



रतवर्षकी आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणाद्वारा यह सि हो गया है कि शक्ति-उपासनाका अस्तित्व अ प्राचीन कालमें भी था। सिन्धनदीके प्रान्तमें 'मोह जो-दारों' में जो खुदाई हुई है उसमें मकानोंके त तह निकले हैं, जिससे पता चलता है कि वहाँ ए एक करके सात नगर बसे और ध्वंस हो गये, इ प्रकार उसके सबसे नीचेके खुदे हुए नगरके बसनेका स अनुमानतः ईसासे पूर्व ४००० वर्ष माना गया है। उस खुदा जो मूर्तियाँ निकली हैं उनमें स्वस्तिक, नन्दीपद, लिंग, योनि शक्तिकी मूर्तियाँ हैं, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय भी उ प्रान्तमें शक्ति-उपासना प्रचलित थी।

'एकोऽहं बहु स्याम्' (मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ)—यह जो सृष्टिका कारणरूप ब्रह्मका आदिसंकल्प है इसी संकल्प अर्थात् इच्छाको आद्याशक्ति अथवा महाविद्या कहते हैं। इसी कारण वह यथार्थमें जगज्जननी जगदम्बा है। ब्रह्माण्डके त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव इस आद्यापराशक्तिसे उद्भूत हुए हैं। ऋग्वेदमें शक्तिका वर्णन स्पष्टरूपसे मिलता है। वेदमें जो उल्लेख है कि एक 'अजा' से अनेक प्रजाकी उत्पत्ति हुई, वह 'अजा' यही आद्याशक्ति हैं। विश्वकी अखिल सत्ता (अस्तित्व), चेतनता, ज्ञान, प्रकाश, आनन्द, क्रिया, सामर्थ्य आदि इसी शक्तिके कार्य हैं। केनोपनिषद्में स्वर्णवर्णा उमाके प्रकट होनेपर देवताओंको ज्ञात हो गया कि इसी शक्तिके प्रभावसे उन्होंने असुरोंपर विजय पायी है, तथा उनकी समस्त शक्तियाँ उसी एक परमा शक्तिसे प्राप्त हुई हैं। वेदोंकी माता तथा मुख्य अधिष्ठात्री परमोपास्या शक्ति गायत्री भी यही आद्याशक्ति हैं, जो भवबन्धनसे त्राणकर मुक्ति प्रदान करती हैं। वेदान्त और ज्ञानमार्गकी प्रतिपाद्य 'विद्या', जिसके द्वारा अविद्याका नाश और ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह भी यही आद्याशक्ति हैं। योगकी मुख्य शक्ति कुण्डलिनी भी यही आद्याशक्ति हैं। उपासना और भक्तिमार्गकी ह्लादिनीशक्ति तथा इष्टदेवोंकी अर्धांगिनी—जैसे दुर्गा, सीता, राधा, लक्ष्मी, गायत्री, सरस्वती आदि—जिनकी कृपादृष्टिसे इष्टकी प्राप्ति होती है वह सब यही आद्याशक्ति हैं। श्रीअध्यात्मरामायणमें श्रीसीताजी श्रीहनुमान्‌जीसे कहती हैं कि—'श्रीरामचन्द्रजी तो कुछ नहीं करते, अवतारकी सारी लीलाएँ मैंने ही की है।' बौद्धोंकी 'प्रज्ञापारमिता' जो ज्ञान

और बोधकी देनेवाली उपास्य देवी हैं, वह भी आद्याशक्ति ही है। उत्तरदेशके बौद्ध जिस तारादेवीकी उपासना करते हैं वह आद्याशक्ति ही हैं। कुरान और बाइबिलमें जो ईश्वरके श्वास (Breath) और शब्द (Word) को सृष्टिका कारण कहा गया है, वह भी यही आद्याशक्ति हैं।

परन्तु जहाँ प्रकाश होता है वहाँ साथ ही तम भी होता है। Light (प्रकाश) और Shade (तम) के अस्तित्वको पाश्चात्य विज्ञानने भी माना है। सृष्टिके विकासके निमित्त इन दोनों विरुद्ध पदार्थोंकी आवश्यकता है। इसी नियमके अनुसार आद्याशक्ति अर्थात् पराशक्ति, जो चैतन्य है, उसकी दृष्टिसे अपरा प्रकृति अर्थात् नामरूपात्मक जड मूल प्रकृति उसका दृश्य (कार्यक्षेत्रकी भाँति) हुई और इन दोनों शक्तियोंके संयोगसे सृष्टिरचना हुई। मूलप्रकृति योनिरूपा, त्रिगुणात्मिका, अविद्या अर्थात् अज्ञानमूलक है, और पराप्रकृति चेतन पुरुषरूपा, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी विद्या और ज्ञानमूलक है। जीवात्मा तो ईश्वरका अंश है, उसकी प्रथम उपाधि कारणशरीर है जो आनन्दमय है। उसका परा प्रकृतिसे सम्बन्ध है। परन्तु इसके सिवा अन्य दो उपाधियाँ भी हैं जो त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिके कार्य हैं—उनकी संज्ञा सूक्ष्म और स्थूल शरीर है। इन दो उपाधियोंमें तमोगुण और रजोगुणकी प्रधानता है। मनुष्यजीवनका उद्देश्य है विद्याशक्तिके गुणोंके आश्रयसे अविद्यान्धकारका नाश करना तथा रजोगुण और तमोगुण का निग्रह करके उनको शुद्ध सत्त्वमें परिणतकर पुनः त्रिगुणातीत अवस्थाको प्राप्त करना। इस प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृतिके कार्य

साथ विद्याशक्तिके आश्रयसे संघर्षणद्वारा जीवात्मामें जो ईश्वरके दिव्य गुण, सामर्थ्य आदि सन्निहित हैं वे प्रकट होकर उस जीवात्माके द्वारा संसारमें लोकहितार्थ फैलते हैं और इस प्रकार संसारका कल्याण करते हैं। इस संघर्षणके विना संसारका कल्याण नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान, अज्ञान, परा, अपरा दोनों प्रकृतियोंकी आवश्यकता है। इसीलिये पूजामें ज्ञान और अज्ञान दोनोंकी पूजा की जाती है। अतएव त्रिगुणमयी प्रकृति अर्थात् अविद्याशक्ति और दिव्य परा विद्याशक्ति दोनों आवश्यक हैं। इसलिये यथार्थ शक्ति-उपासना यही है कि इस त्रिगुणमयी प्रकृतिके कार्य अथवा स्वभाव—निद्रा, आलस्य, तृष्णा (कामवासना), भ्रान्ति (अज्ञान), मोह, क्रोध (महिषासुर), काम (रक्तबीज) आदिको महाविद्याके गुण सद्बुद्धि, बोध, लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति*, लज्जा, श्रद्धा, कान्ति, सद्वृत्ति, धृति, उत्तम स्मृति, दया (परोपकार) आदिके द्वारा निग्रह और पराभवकर उनपर विजय-लाभ करे। इससे जीवात्मा अपने उस खोये हुए आत्मराज्यको प्राप्त करेगा, जिस राज्यसे आसुरी वृत्तियोंने उसे च्युत कर दिया था। यही देवासुरसंग्राम है जिसका क्षेत्र यह मानव-शरीर है। दुर्गासप्तशतीके पहले और पाँचवें अध्यायमें यह स्पष्ट-रूपसे कहा गया है कि उपर्युक्त सभी दैवी गुण श्रीभगवतीके ही गुण हैं।

---

* त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च॥
(दु० स० १। ७९)

मातृभाव और ब्रह्मचर्य

शक्तिकी उपासनामें मातृभाव और ब्रह्मचर्यका महत्त्व प्रधान माना जाता है। दुर्गासप्तशतीके ११ वें अध्यायमें नारायणीस्तुति लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः ॥६॥

हे देवि! समस्त संसारकी सब विद्याएँ तुम्हींसे निकली हैं और सब स्त्रियाँ तुम्हारी ही स्वरूप हैं, समस्त विश्व एक तुमसे ही पूरित है, अतः तुम्हारी स्तुति किस प्रकार की जाय?

शक्तिके उपासकको अपनी धर्मपत्नीके सिवा सब स्त्रियोंको जगदम्बाका रूप समझ उनमें परम पूज्य भाव रखना चाहिये। कामात्मक दृष्टिसे उन्हें कभी नहीं देखना चाहिये। सब स्त्रियोंको जगदम्बा मानना ही शक्ति-उपासनाका यथार्थ मातृभाव है, और ऐसी भावना रखनेवालेके ऊपर शक्तिकी कृपा शीघ्र ही होती है। अतएव शक्ति-उपासनामें मन, कर्म और वचनसे ब्रह्मचर्यका पालन करना परमावश्यक है। अपनी स्त्रीके संग सन्तानार्थ ऋतुकालमें कर्तव्यबुद्धिसे, पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये संगम करना ब्रह्मचर्यके विरुद्ध नहीं है ऐसी मनुकी आज्ञा है। सप्तशतीमें लिखा है—

सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।

हे देवि ! तुम बुद्धिके रूपमें सबके हृदयमें स्थित हो । वस्तुतः शक्ति सबके हृदयमें विराजमान हैं; अतएव सबको हृदयस्थ शक्तिकी उपासना करनी चाहिये ।

बड़े शोककी बात है कि आजकल उपासनाके मुख्य अंग कामादि विकारोंके निग्रहकी अवज्ञा की जाती है और इसके विपरीत लोग जिह्वा, शिश्न और उदरपरायण होकर भोगात्मक विषयोंमें ही अनुरक्त हो उन्हींमें लिप्त रहते हैं तथा इसीको शक्ति-उपासनाकी साधना मानते हैं । दया (परोपकार), क्षान्ति (क्षमा), धृति (धैर्य), शान्ति (मनकी समता), तुष्टि (सर्वदा प्रसन्न रहना), पुष्टि (शरीर और मनसे स्वस्थ रहना), श्रद्धा, विद्या, सद्‌बुद्धि आदि महाविद्याके गुण हैं; इनके प्राप्त होनेसे ही साधक विद्याशक्तिसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, अन्यथा कदापि नहीं । इसके विपरीत जिनमें इन सद्‌गुणोंके विरुद्ध दुर्गुण—हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भोगलिप्सा, मत्सर, तृष्णा, आलस्य आदि वर्तमान हैं, उनको अनेकों प्रकारके पूजा-पाठ, जप-तप आदि करनेपर भी शक्तिकी कृपादृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती । पाश्चात्य देशनिवासियोंकी आजकल जो विद्या, कला-कौशल, व्यापार–वाणिज्य आदिमें विशेष रुचि देखी जाती है उसका कारण उनमें शक्तिकी तुष्टि तथा कृपाकी प्राप्तिके मुख्य साधनस्वरूप इन सद्‌गुणोंका कुछ-कुछ विकसित होना ही है ।

पूजा-पाठ, जप-होम, ध्यान आदि भी शक्ति-उपासनाके मुख्य अंगोंमें हैं; परन्तु महाविद्याके सद्गुणोंके अभावमें ये व्यर्थ हैं ।

अतएव यथार्थ शक्ति-उपासना यही है कि पहले दिव्य गुणोंको करे और उनसे विभूषित होकर पूजा-पाठ, स्तव, जप-ध्यान, आदि कर्म करे। जिनका हृदय कलुषित, मन अपवित्र, दम्भपूर्ण, भाव कुत्सित, इन्द्रियाँ भोगपरायण तथा जिह्वा अस दग्ध है, उनके पूजा-पाठ, जाप आदि कर्म प्रायः व्यर्थ ही हैं। कहीं-कहीं तो उलटे हानि हो जाती है, क्योंकि भया दुर्गुणोंको देखकर इष्टदेवता रुष्ट हो जाते हैं। लिखा है कि रुष्ट होनेपर समस्त अभीष्ट कामनाओंका नाश कर देती हैं। प जो सद्गुणोंसे विभूषित हो, अहंकार और ममता त्यागकर दीन और आर्तभावसे श्रीआद्याशक्तिके चरणोंमें अपनेको समर्पण देते हैं उनके सब कष्टों और अभावोंको मिटाकर माता उनका त्र करती हैं। श्रीदुर्गासप्तशतीकी नारायणीस्तुतिमें भी लिखा है—

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(११।१

श्रीदुर्गा सर्वत्र सबमें व्याप्त हैं और जो उन्हें इस प्रकार स व्यापकरूपसे वर्तमान जानते हैं, वह भयसे त्राण पाते हैं। मो दात्री श्रीविद्याकी प्राप्तिके लिये इन्द्रियनिग्रह परमावश्यक है। इस निम्नलिखित वाक्य प्रमाण हैं—

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते॥

(दु० स० ११।२४)

सर्वतःपाणिपादान्ते सर्वतोऽक्षिशिरोमुखि ।
सर्वतःश्रवणघ्राणे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥

(दु० स० ४ । ९)



शक्ति-उपासनाका तात्पर्य

आदिसंकल्प



परात्पर ब्रह्मका आदिसंकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम्' (एक हूँ, अनेक हो जाऊँ), जो सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल कारण है, वही आद्याशक्ति है। इस शक्तिके प्रकृतिभागका मुख्य कार्य ब्रह्मको अनेक रूपोंमें प्रकाशित करनेके निमित्त प्रथम उपयुक्त उपाधियाँ प्रस्तुत करना है। उपयुक्त उपाधि अर्थात् मनुष्यशरीरके प्रस्तुत होनेपर पराशक्तिके शुद्ध चैतन्यभागद्वारा ब्रह्मको अनेक अंशोंमें विभक्त कर उन उपाधियोंमें

प्रविष्ट करवाना है, उसके पश्चात् सर्गका मुख्य कार्य उन उपाधियों-के रजोगुण-तमोगुण-भावको शुद्ध सात्त्विकमें परिवर्तित कर ऐसा स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध बना देना है, जिसमें ब्रह्मके दिव्य गुण, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, विभूति आदि जो प्रत्येक जीवात्मामें बीजरूपमें निहित (गुप्त) हैं, उनका परा शक्तिके आश्रयसे विकास हो और फिर उसके द्वारा जीव और ब्रह्ममें सम्बन्ध स्थापित हो। यह सम्बन्ध शक्तिद्वारा स्थापित होता है। यही सृष्टिका उद्देश्य है जिसको आद्याशक्ति नाना रूपोंके द्वारा पूरा कर रही हैं। इसीके निमित्त आद्याशक्तिने वेदको प्रकाशित किया, जिसके कारण उनका वेदमाता गायत्री नाम हुआ। सशक्ति ब्रह्मके ही नाम महेश्वर, महाविष्णु, परमेश्वर आदि हैं। इस आद्याशक्तिके द्वारा ही, जिसको परा शक्ति भी कहते हैं, ब्रह्माण्डमें तृणसे लेकर त्रिदेव-पर्यन्त उद्भव हुए हैं और इसी आद्याशक्तिकी शक्ति सबके अन्दर पायी जाती है। इसी कारण यह शक्ति ही यथार्थ जगन्माता हैं।

दो शक्तियाँ

सृष्टिके उद्भव, स्थिति, पालन, विकास आदिके निमित्त दो शक्तियोंकी आवश्यकता है; क्योंकि किसी तरहका विकास बिना आधार-आधेय, जड-चेतन, अथवा शरीर-शरीरी आदि द्वन्द्वके सम्भव नहीं। इसी कारण सृष्टिके उद्भवके लिये आद्याशक्तिका दूसरा रूपान्तर मूल प्रकृति है। यह भी अनादि है और साम्यावस्थामें दिव्य ही है। जिस तरह परा शक्ति सत्, चित्, आनन्द, विद्या आदि दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है, उसी प्रकार मूल प्रकृति विकृत होने-

× × ×

पर उन गुणोंके विरुद्ध असत् (माया), अचित् (जड), दु
योनि, अविद्या आदि गुणवाली है। मूल प्रकृति आधार होनेके
ब्रह्मका आवरण बन गयी, जिसके बिना दृश्यका प्रादुर्भाव स
नहीं था। अतएव यह अविद्या है और परा शक्ति स्वयं ब्रह्मका प्र
होनेके कारण महाविद्या है। श्रीदेवीभागवतमें इस अवस्था
वर्णन इस प्रकार है—

चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्।
स्वप्रकाशश्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्॥

दो विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंके एकत्र हुए बिना कोई वि
नहीं हो सकता, जैसे फोटोग्राफका चित्र प्रकाश (Light)
तम (Shade) के संयोगसे तैयार होता है। अतएव दो
शक्तियाँ आवश्यक हैं। इस कारण आधारशक्तिकी भी सृ
और साधनपथमें आवश्यकता तथा उपयोगिता है। ये दो
शक्तियाँ ब्रह्मके ही विकास होनेके कारण मूल प्रकृतिकी दृ
अभिन्न हैं, मूलप्रकृति भी साम्यावस्थामें अनादि और अव्यय है
किन्तु जब सृष्टिके उद्भवके निमित्त पराशक्ति इसमें क्षोभ उत्प
कर इसको त्रिगुणात्मिका बना देती हैं तो यह अविद्या होक
ब्रह्मको आच्छादित कर लेती है। त्रिगुणात्मिका अविद्या बनकर यह
सृष्टिके उद्भव, स्थिति और लयके कार्यमें प्रवृत्त होती है।

परा शक्ति

यह ब्रह्मकी सत्ता और महाचैतन्य होनेके कारण ब्रह्मसे
सदा अभिन्न हैं। ब्रह्मका ज्ञान करानेवाली, उनके साथ सम्बन्ध

स्थापित करानेवाली और उनके सच्चिदानन्दभावको प्रकट करनेवाली यही परा शक्ति हैं; अन्यथा न तो कोई अप्रमेय, अज्ञात, अज्ञेय ब्रह्मको जान सकता और न पा सकता है। देव, पितृ, ऋषि, रुद्र, वसु, मनु, सनकादि आदि चराचर विश्व, यहाँतक कि ब्रह्माण्डके अधिनायक त्रिदेवतकका विकास इन्हीं परा शक्तिके द्वारा हुआ है; इन्हींके द्वारा वे स्थित हैं और इन्हींकी शक्ति, ज्ञान, बलके द्वारा वे सब-के-सब कार्य करते हैं, अन्यथा स्वयं कोई कुछ नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथा प्रसिद्ध है। श्रीदेवीभागवतमें इस विषयमें ऐसा कथन है—

न विष्णुर्न हरः शक्रो न ब्रह्मा न च पावकः।
न सूर्यो वरुणः शक्ताः स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन।
तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः॥

(१।८।३९)

इसीलिये भिन्न-भिन्न प्रधान देवोंकी अपनी-अपनी गायत्री है।

विश्वमें व्यक्तभावमें जितने नामरूपात्मक अथवा अन्तरिक्षमें जितने अनाम और अरूपात्मक विकास हैं और जहाँ कहीं भी जो कुछ क्रिया हो रही है वे सब केवल ब्रह्मकी शक्तिके कार्य हैं अथवा यों कहिये कि ब्रह्म भी शक्ति ही है, जैसा कि श्रीदेवीभागवतका वचन है—

एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।

(१।८।३४)

केवल शक्तिद्वारा ही ब्रह्म व्यक्त अथवा ज्ञात होते हैं, अन्यथा

कदापि नहीं। इसी कारण श्रीशक्तिने प्रकट होकर यथार्थ
देवताओंके सामने प्रकाशित किया। यही कारण है कि ब्रह्म
प्राप्तिके लिये वेदने केवल गायत्रीकी उपासनाको ही एकमात्र
बताया है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मके अन्य रूप वि
शिव, राम, कृष्ण आदिकी प्राप्ति उनकी शक्ति लक्ष्मी, दुर्गा, सी
राधा आदिके सम्बन्ध और कृपाकी प्राप्तिके बिना नहीं हो सकती
सारांश यह है कि यह दृश्य और अदृश्य जगत्, चींटीसे ले
ब्रह्मापर्यन्त इसी परा शक्तिके द्वारा सञ्चालित हो रहा है और स
के-सब उसी शक्तिके रूपान्तरमात्र हैं।

आधार-शक्तिकी उपयोगिता

ब्रह्मके नाना रूपोंमें प्रकट होनेके निमित्त उपयुक्त आधार
बननेका कार्य स्थावर—जैसे पर्वत, वृक्ष आदिसे आरम्भ हो
सरीसृप, पक्षी और पशुयोनितक होता रहता है। स्थावर
प्रकृतिका तमोगुणभाव प्रधान है, किन्तु पशुमें प्रकृतिके रजोगु
भावद्वारा तमको दमन करनेके लिये रजशक्ति प्रधान हुई। अतः
पशुमें मुख्यतया आहार, भय, मैथुन, हिंसा, काम, क्रोध आदि
रजोगुणके कार्य प्रबल हैं, जिनके द्वारा तमोगुणका निग्रह हो
है। इसी कारण इन्हींको लेकर पशुका जीवन है। पशुमें तम द
जाता है; किन्तु निद्रा, आलस्य आदिके रूपमें किसी परिमाण
वह वर्तमान रहता है। सत्त्वगुणके कार्य—बुद्धिशक्तिके अभावके
कारण पशु रजोगुणके स्वभाव—जैसे हिंसा, काम, क्रोध आदिक
दमन नहीं कर सकते। मनुष्यका मनुष्यत्व और पशुसे उच्च

उसके अन्तःकरणकी बुद्धिशक्तिके कारण है जो सत्त्वगुणका कार्य है और जो पशुमें नहीं है। अतएव मनुष्यका परम धर्म है कि सत्त्वगुणकी बुद्धिशक्तिकी सहायतासे वह तम और रजका निग्रह करे अर्थात् तम और रजका बलिदान कर उन्हें सत्त्वमें परिणत करे। इसके बाद सत्त्वको भी अतिक्रमकर परा विद्याके तेजको लाभ करे और इस प्रकार गुणातीत होकर ब्रह्मकी प्राप्ति करे। शक्ति-उपासनाका मुख्य उद्देश्य मनुष्यके पशुस्वभाव अर्थात् रज और तमके विकारको दिव्य भावमें परिवर्तित करना है। ऐसा परिवर्त्तन तमोगुण-रजोगुणरूप पशुस्वभाव अर्थात् हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान, ईर्ष्या आदि आसुरी सम्पदाका बलिदान परा विद्याको चढ़ानेसे होगा अर्थात् आसुरी सम्पत्तिको परा विद्याकी दैवी सम्पत्तिके रूपमें परिणत करनेसे होगा। वेदमें इस बलिका नाम यज्ञ है। इन्द्रियोंके व्यापारद्वारा केवल अपना कामात्मक और रागात्मक स्वार्थसाधन करना पशुभाव है, जिसके कारण प्रायः दूसरेकी हिंसा, क्षति करनी पड़ती है (जैसा कि बड़े पशु छोटेके साथ करते हैं)। इस भावके मूल दस इन्द्रिय और ग्यारहवें मनके तम-रजके विकाररूप पशुभावका हनन अथवा स्वाहा कर उनको परा प्रकृतिके चरण अर्थात् दिव्य गुणोंमें अथवा विद्याग्निमें समर्पित कर देना चाहिये, जिसमें वे इस संयोगद्वारा शुद्ध हो जायँ और उनके द्वारा विश्वकी, जो चिच्छक्तिका ही रूप है, सेवा हो। अर्थात् कामात्मक भाव स्वार्थत्यागात्मक भावमें परिणत हो जाय। यही यथार्थ शक्ति-उपासना है; इसमें इन्द्रिय-विकाररूप पशुकी बलि देनी पड़ती है, जिससे पशुभाव दिव्य-

भावमें परिणत हो जाता है। रहस्यतन्त्रका वचन है—

कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दद्याज्जपं चरेत्।

एक दूसरे तन्त्रका वचन है—

'इन्द्रियाणि पशून् हत्वा।'

युद्ध

किन्तु पशुभावकी बलि अथवा यज्ञ करना सहज नहीं है। उसके हनन अथवा दमनकी चेष्टा करना उससे युद्ध करना है क्योंकि संसारका नियम है कि इसमें प्रत्येक पदार्थ वर्तमान रहना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। इस कारण नष्ट होनेकी सम्भावना आनेपर स्वभावतः ही बचनेके लिये घोर चेष्टा की जाती है।

वेदका आर्य (दिव्य गुण) और अनार्य (आसुरी सम्पत्ति) का युद्ध, पुराणका देवासुरसंग्राम, सप्तशती-चण्डीका असुरयुद्ध, राम-रावण-युद्ध, महाभारतका कौरव-पाण्डव-युद्ध इसी अभ्यन्तर युद्धके द्योतक हैं। वेदके यज्ञयुद्धमें स्वाहाशक्ति अर्थात् त्याग-शक्ति प्रधान है। देवासुरसंग्राममें भी वैष्णवी शक्तिकी सहायतासे विजय हुई। चण्डीके सप्तशतीका महिषासुर क्रोध है (महिष पशुमें क्रोध प्रधान है) और उसकी सेना क्रोधका विकार है। धूम्रलोचन मद्यपान है; मधुकैटभ तमोगुण है जो प्रलयमें प्रधान रहता है और जिसके दमनके बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती। चण्ड-मुण्ड अहंकार है (क्योंकि मुण्डसे मनुष्यकी पृथक्ता प्रकट होती है); रक्तबीज काम है और शुम्भ-निशुम्भ लोभ है।

ये सब विकार अविद्याके कार्य हैं, अतएव विद्या-शक्तिकी सहायता और आश्रयके विना इनका दमन कदापि सम्भव नहीं। इसी कारण इन असुरोंके दमनके लिये देवगण शक्तिके शरणापन्न हुए, जिनके द्वारा इन असुरोंका पराभव हुआ, जैसा कि सप्तशती चण्डीमें वर्णित है। राम-रावण-युद्धमें दशानन रावण प्रबल दशेन्द्रिय है, जिसका ग्यारहवाँ गधेका मुख अहंकार है। इन ग्यारहोंके समूह रावणने सद्बुद्धिरूपी सीताका हरण किया। इस युद्धमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्रने प्रथम जगद्गुरु रामेश्वर शिवकी आराधना की और युद्धके समय शक्तिका उत्थान किया, जिसके कारण शारदीय नवरात्र पूजा प्रारम्भ हुई। महाभारत-युद्धमें कौरव-सेना अविद्या-दल है और पाण्डव-सेना विद्या-दल। श्रीकृष्णरूप कालीशक्तिकी सहायतासे ही इस युद्धमें जय मिली।

युक्त चेष्टा

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, रजोगुण, तमोगुणकी आवश्यकता यह है कि उनको अतिक्रम और निग्रहके द्वारा शुद्ध करनेसे दिव्य गुण और सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है, जो अन्यथा सम्भव नहीं है। तमोगुणका आलस्यस्वभाव निकृष्ट अवश्य है; किन्तु यदि कुत्सित कार्य करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होनेपर उसमें आलस्य किया जाय तो लाभ है। क्योंकि विलम्ब होनेसे ऐसी वासना क्षीण हो जाती है। अधिक निद्रासे हानि होती है; किन्तु स्वल्प निद्रा आवश्यक और लाभकारी है। क्षुधा, तृष्णा, मैथुन आदि अधिक और अविहित होनेसे भयावह हैं; किन्तु बलिवैश्वदेवद्वारा देव, ऋषि, अतिथि

आनन्दमार्ग × × ×

आदिको तृप्त करनेके बाद क्षुधा, तृष्णाकी, जो शक्तिके अंग हैं, तृप्ति करना यज्ञोपासना है। कामात्मक और अयुक्त मैथुन हानिप्रद है; किन्तु उत्तम सन्तानकी उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे उद्धार पानेके लिये, गृहस्थ-ब्रह्मचारीके नियमोंका बिना भंग किये हुए जो मैथुन होता है, वह यज्ञोपासना है। कोई भी, किसी प्रकारसे हठात् न तो रजोगुण, तमोगुणका निग्रह कर सकता है, न एकदम उन्हें रोक सकता है और न सर्वथा उनका त्याग किया जा सकता है। क्योंकि, यदि किसी आवश्यक उद्देश्यके साधनके लिये वे जरूरी न होते तो उनका प्रादुर्भाव ही न होता। इस सृष्टिमें कुछ भी व्यर्थ अथवा अनावश्यक नहीं है। रजोगुण, तमोगुणकी क्रियाके कामात्मक भावको परमार्थमें परिवर्तित करने और कर्तव्य-पालनमें उसका व्यवहार युक्त परिमाणमें करनेसे ये गुण वशमें हो जाते हैं। इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है कि आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जागरणका अत्यन्त निग्रह हानिकर है, किन्तु विहित और युक्त परिमाणमें करनेसे लाभ होता है। रजोगुण-तमोगुणको, युक्त आहार, विहार और चेष्टा आदिके द्वारा उनकी कामात्मक प्रवृत्तिको धीरे-धीरे बदलकर परमार्थमें प्रवृत्त कर देना तन्त्रशास्त्रोक्त शक्ति-उपासनाका मुख्य तात्पर्य है। यहाँ सकाम कामका परिवर्तन निःस्वार्थ प्रेममें होता है; क्रोधका प्रयोग केवल दुर्गुणोंके प्रति करके उसे क्षमामें परिवर्तन किया जाता है; मैथुन केवल पितृ-ऋणसे मुक्ति पानेके निमित्त, उत्तम सन्तानकी उत्पत्तिके लिये, जगन्माताका परमावश्यक कार्य समझकर उन्हींके ही लिये किया जाता है; धन-संग्रह केवल कर्तव्य

पालनार्थ किया जाता है; देव-पितृ-कार्य केवल यज्ञके उद्देश्यसे किये जाते हैं।

जिह्वा आदि इन्द्रियोंकी बलि

इन्द्रियोंमें जिह्वा और जननेन्द्रिय बड़ी प्रबल हैं और इनके दुरुपयोगसे बहुत बड़ी हानि होती है। किन्तु साथ ही ये परमावश्यक भी हैं। जिह्वाका मुख्य कार्य भोजन है, जिसके बिना शरीर रह नहीं सकता। बिना मैथुनके यह मैथुनी सृष्टि चल नहीं सकती। इसी निमित्त स्मृति और तन्त्र दोनोंने आहार, पान, मैथुन आदि कामात्मक लिप्साका निग्रह करनेके लिये उन्हें धर्म और उपासनाका अंग बना दिया है। जिसमें भोगेच्छासे न किये जाकर ये धर्म अथवा उपास्यकी सेवाकी भाँति किये जायँ। किन्तु जो इन व्यवहारोंको ऊपरसे धर्म अथवा उपासनाकी घोषणा करते हुए अभ्यन्तरमें कामासक्त होकर करते हैं, वे निश्चय ही भ्रष्ट हो जाते हैं। अतएव इन दो मुख्य पशु-भावको—रजोगुणात्मक कामात्मक स्वभावको परार्थ अर्थात् परमार्थमें परिवर्तित करना चाहिये, जो (परमार्थ और परार्थ) पराशक्तिका दिव्य गुण है। यही इनकी पशु-बलि पराशक्तिके लिये करना है। केवल शरीर-रक्षणार्थ सात्त्विक पदार्थका भोजन करना जिह्वा पशुकी बलि है। इसीको छागबलि कहते हैं। क्योंकि छागमें जिह्वा इन्द्रिय प्रबल होती है, यहाँतक कि वह अफीम भी खा जाता है। अपनी धर्मपत्नीके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको जगन्माता समझे—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

(मार्कण्डेयपु० ८८। ५)

गृहस्थका ब्रह्मचर्यका व्रत धारणकर केवल पितृ-ऋणसे मु पानेके लिये उत्तम सन्ततिके उत्पादनार्थ अपनी धर्मपत्नीके स विहित मैथुन करना जननेन्द्रियरूप पशुका बलिदान है, जगन्माताकी पूजा अथवा यज्ञ है। जगन्माता दुर्गा सृष्टिकर्त्री है इस कारण उत्तम सन्तानोत्पादनार्थ विहित मैथुन उनकी पूजा है स्मरण रहे कि कामात्मक मैथुनसे कामी सन्ततिकी उत्पत्ति हो है जिससे जगन्माताके कार्यमें बाधा पड़ती है; अतएव वह अधर्म है इसलिये गृहस्थके निमित्त जो ब्रह्मचर्य-अविरोधी मैथुन है, उसे सुसन्तानार्थ विहितरूपसे करना जगन्माताके निमित्त बलि अ पूजा है, इसके विरुद्ध करना नहीं। इसीको कपोत-ब्लि कहते है क्योंकि कपोतमें कामेच्छा प्रबल है। इस प्रकार मैथुनकी कामा लिप्साको धर्मार्थ ब्रह्मचर्ययुक्त विहित और युक्त मैथुनमें परिव करना ही शक्तिकी पूजा है।

तीनों गुणोंकी अधिष्ठात्री देवियाँ

प्रवृत्ति-मार्गमें सन्तानोत्पादन करना आवश्यक है, जि अधिकांश लोग काम-लिप्सासे प्रवृत्त होते हैं, कालान्तरमें ज्ञ होनेपर, रजोगुणकी काम-लिप्साके दमन करनेपर वह सात्वि धर्म-लिप्सामें परिवर्तित हो जाती है अर्थात् भोगके बदले उस धर्मपालन उद्देश्य बन जाता है। यह रजोगुणका अतिक्र करनेसे प्राप्त होता है। अतएव रजोगुण और उसका संचाल करनेवाली रजोगुणी शक्तियाँ परमावश्यक हैं। इसी प्रकार तमोगु शक्तियाँ भी सीमित और उचित परिमाणमें आवश्यक हैं।

साधन-प्रणाली

रजोगुण-तमोगुणके दमनरूप युद्धमें दैवी सम्पत्तिके द्वारा आसुरी सम्पत्तिका दमन करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिके गुण वर्णित हैं। ज्ञानके लक्षणका वर्णन भी भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें है। ज्ञानका दूसरा नाम विद्या है। महाविद्याकी छत्रछाया और आश्रयमें आनेके लिये अविद्याकी आसुरी सम्पत्तिका दमन करना चाहिये, जो दैवी सम्पत्तिकी प्राप्तिद्वारा ही सम्भव है। अतएव विद्या-शक्तिके मुख्य गुण जो अहिंसा, सत्य, अभय, बुद्धि, बोध-शक्ति, लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति, मेधा, आर्द्रचित्तता, श्रद्धा, उदारता, सद्वृत्ति, इन्द्रिय-निग्रह, धृति, स्मृति, स्वाध्याय, तप, सरलता, कोमलता, दया, स्त्रीमात्रको जगन्माताके रूपमें देखना आदि हैं; और जिन्हें सप्तशती-चण्डीमें विद्या-शक्तिके रूप कहा गया है; अभ्यासके द्वारा उनकी पूर्ण प्राप्ति होनेपर ही अविद्याका नाश होगा, विद्या-शक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापित होगा और उनकी प्रसन्नता प्राप्त होगी। ऊपर कहे हुए शक्तिके रूप जो सद्गुण हैं, उनके अभ्याससे ही गीताके ज्ञान और दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति होगी जिसके द्वारा आसुरी सम्पत्ति अर्थात् पशुभावका दमन होगा और फिर उससे दिव्य भावकी प्राप्ति होगी, जो शक्ति-उपासनाका मुख्य उद्देश्य है तथा मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है। उपयुक्त पूजा, जप, ध्यान, पाठ आदिका भी मुख्योद्देश्य उपर्युक्त दिव्य

गुणोंकी प्राप्ति ही है। यही यथार्थ शक्ति-उपासना है, जो सबके लिये परम आवश्यक है। ऊपर कथित शक्तिके दिव्य गुणोंकी प्राप्तिके बिना न कर्मयोग, न अभ्यासयोग, न ज्ञानयोग, न भक्तियोग, न किसी इष्टदेवकी प्राप्ति और न ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है। जो इन दिव्य गुणोंकी प्राप्तिको शक्ति-उपासनाका मुख्य अंग नहीं समझते, वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

मोक्षदायिनी शक्तिके नाना भेद

वेदमें पराशक्तिकी संज्ञा गायत्री है, जिसके द्वारा एकाक्षर ब्रह्मरूप प्रणवकी प्राप्ति होती है। यज्ञके देवकर्ममें पराशक्ति स्वाहा, पितृकर्ममें स्वधा, योगमें कुण्डलिनी शक्ति, ज्ञानयोगमें विद्या, भक्तियोगमें ह्लादिनीशक्ति, उपासना-काण्डमें दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदि हैं। इन सबकी प्राप्तिके बिना इनसे सम्बन्ध रखनेवाली साधनामें सफलता नहीं मिल सकती। बौद्धधर्ममें प्रज्ञापारमिता, जैनधर्ममें तीर्थङ्कर भी पराशक्तिके प्रतिरूप हैं; क्योंकि तीर्थङ्कर अर्थात् महात्मा सद्गुरुगण सदा दैवी प्रकृति (पराशक्ति) के आश्रयमें रहते हैं जैसा कि गीता अ० ९, श्लोक १३ का वचन है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥



महाभारतमें शिव-वर्णन

श्रीविष्णु और श्रीशिवकी अभिन्नता

महाभारतके शान्तिपर्वके ३४१ वें अध्याय (श्लोक २६, २७) में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि—

यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ।

तथा—

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम् ।

अर्थात् 'जो श्रीरुद्रको जानता है वही मुझको जानता है; जो उनका अनुगत है वही मेरा अनुगत है। रुद्र और नारायण दो होनेपर भी एक ही हैं।' इसलिये हे अर्जुन ! तुम निश्चय जानो कि श्रीरुद्र युगयुगान्तरमें नारायणके सिवा दूसरे नहीं हैं । मैं

श्रीरुद्रकी प्रथम पूजा करता हूँ। आगे उसी पर्वके ३४२ वें अध्याय श्रीरुद्र तथा बदरिकाश्रमके नर-नारायणके पारस्परिक युद्ध कथाका वर्णन आता है, जिसके परिणाममें दोनोंमें एकता स्थापि की गयी है। उस प्रसङ्गमें श्रीनारायण कहते हैं—

यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु।
नावयोरन्तरं किञ्चिन्मा तेऽभूद्बुद्धिरन्यथा॥

(महा० शा० ३४२। १३३

अर्थात् 'हे रुद्र! जो तुम्हें जानता है वही मुझे जानत है। जो तुम्हारा अनुचर है वही मेरा भी अनुचर है। तुम्हारे औ मेरे बीच कुछ भी अन्तर है—ऐसा न समझना।'

परन्तु आदिकारण श्रीशिव रुद्रगणोंसे परे हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वके १४ वें अध्यायमें एक कथा आती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं युधिष्ठिरसे कहते हैं कि, 'श्रीमती जाम्बवतीको श्री प्रद्युम्नके समान पुत्रलाभके निमित्त हिमालयपर्वतपर उपमन्यु ऋषिसे दीक्षा लेकर मैंने श्रीशिवकी तपस्या की थी।' उस पर्वमें १३ वें अध्यायसे लेकर १८ वें अध्यायपर्यन्त श्रीशिवजीके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमहेश्वर शिव त्रिदेवमें परिगणित रुद्रसे परे हैं तथा वही संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं लयके कारण हैं। इसी अध्यायके ७७–७९ श्लोकोंसे जान पड़ता है कि श्रीशिवजीने ही श्रीविष्णुको सुदर्शन-चक्र दिया था। श्रीउपमन्यु ऋषि भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं कि मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर जब भगवान् शङ्करजीने मुझको दर्शन दिया, तब मैंने देखा कि—

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥
वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः ।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥
स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्वं एव समभ्ययुः ॥

(महा० अनु० १४ । २७६-२७७-२८०)

—'श्रीशङ्करजीकी दाहिने ओर संसारके पितामह ब्रह्माजी शीघ्रगामी अपने वाहन हंसके साथ दिव्य विमानपर बैठे हुए हैं, बायीं ओर शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये भगवान् श्रीविष्णु अपने गरुड़पर चढ़े हुए विराजमान हैं, स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषिगण तथा इन्द्र आदि देवता, उनकी अभ्यर्थनामें खड़े हैं ।' तथा—

ज्येष्ठं साम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ॥

(महा० अनु० १४ । २८३)

अर्थात् 'श्रीनारायणने देव-देव श्रीमहादेवकी प्रसन्नताके लिये ज्येष्ठ साम-गान गाया ।'

जब भगवान् श्रीकृष्णजीकी तपस्या पूरी हुई, तब उन्होंने देखा कि—

एकादशशतान्येवं रुद्राणां वृषवाहनम् ।
अस्तुवं नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥
आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ ।
विश्वाभिः स्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥

शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके॥
योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम्।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै॥
सनत्कुमारो वेदाश्च इतिहासास्तथैव च।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥
मनवो सप्त सोमाश्च अथर्वा सबृहस्पतिः।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च॥
छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्त्तिमन्ति युधिष्ठिर॥

(महा० अनु० १४। ३९०-३९३। ३९६-३९८)

—'ग्यारह सौ रुद्र अपने वृषभ वाहनपर सवार हुए नियमपूर्वक अपने कर्मोंसे शुभकर्मनिष्ठ श्रीमहादेवकी स्तुति कर रहे हैं। द्वादश आदित्य, आठ वसुदेवता, साध्य देवगण, विश्वदेवा तथा अश्विनीकुमार आदि सभी देव देवाधिदेव महादेवकी दिव्य स्तुतियोंसे स्तवन करते हैं। इन्द्र, भगवान् विष्णु, अदितिके पुत्र एवं ब्रह्मा श्रीशङ्करजीके समीप रथन्तर सामका गान करते हैं। नाना प्रकारके योगेश्वर अपने पुत्रोंके साथ, ब्रह्मर्षिगण, देवर्षिवृन्द, सनत्कुमार तथा चारों वेद, अष्टादश पुराण, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सातों मनु, सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य एवं छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, पावक, हवि, यज्ञसामग्री प्रभृति मूर्तमान् होकर, हे युधिष्ठिर! योग प्रदान करनेवाले

गुरु श्रीशिवजीके समीप उपस्थित हैं।' उस समय श्रीशिवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि—

त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः॥
त्वत्समो नास्ति मे कश्चित्त्रिषु लोकेषु वै प्रियः॥
(महा० अनु० १४। ४०५-६)

—'तुमने सैकड़ों, हजारों बार मेरी आराधना की है। तीनों लोकोंमें तुमसे अधिक प्रियपात्र मेरा कोई नहीं है।' इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण परम परात्पर महेश्वरकी स्तुति करने लगे—

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः॥
त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः।
सर्वतः पाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः॥
त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः॥
(अनु० १४। ४०८-९। ४१८-२०)

'हे भगवन्! तुम ही ब्रह्मा हो, तुम ही रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, धाता, त्वष्टा, विधाता हो, तुम ही सर्वतोमुख हो रहे हो। तुमसे ही सारे चराचर प्राणी उत्पन्न हुए हैं। चराचर जीवोंके साथ यह तीनों लोक पूर्णतः तुमसे ही रचे गये हैं! हे ऋषियोंके द्वारा स्तुति किये जानेवाले देवाधिदेव! तुम ही सब भूतोंके हृदय

हो, तुम्हीं क्षेत्रज्ञ हो, तुम चारों ओर हाथ-पैरवाले तथा सब ओर आँख, सिर एवं मुखवाले हो रहे हो। तुम्हीं सबके हृदयोंमें स्थित चैतन्यप्रकाशरूप हो। हे अव्यय! तुम्हीं अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशित्व आदि सिद्धियाँ तथा ज्योतिःस्वरूप हो।'

भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वीकार किया कि—

मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा संपूजितो मया।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च॥

(अनु० १८। ३३)

—'मैंने इस पर्वतपर सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों वर्षोंतक श्रीमहादेवकी पूजा की है।' फिर भगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः॥

(अनु० १४। १४०)

—'श्रीशङ्करजी ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार प्रभृति समस्त देवताओंके रूपमें आते हैं।' तथा—

पुँल्लिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्॥

(अनु० १४। २३५)

—'जगत्‌में सारे पुँल्लिङ्गको श्रीशङ्कर तथा स्त्रीलिङ्गको उमा समझो। यह समस्त चराचर उन्हीं दोनोंके शरीरसे व्याप्त है।'

महर्षि श्रीताण्डिका कथन है—

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ॥
न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ॥
(अनु० १६ । १५-१६)

'ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, विश्वेदेवा, महर्षिगण प्रभृति भी हे शिव ! तुझे तत्त्वतः नहीं जान सके तो फिर हम किस प्रकार जान सकते हैं?'

जगद्गुरु श्रीशिव

श्रीउपमन्यु कहते हैं—

मघवन्मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥
(अनु० १४ । १९९)

—'हे मघवन् ! हे महेश्वर ! जिनको महात्मा इन्द्रका भी आत्मा बतलाते हैं तथा जिनको सब प्राणियोंके गुरु और देव कहते हैं, उनसे हम वर पाना चाहते हैं ।'

भगवान् श्रीकृष्णसे श्रीउपमन्युने जो श्रीशिवसहस्रनाम कहा है उसमें श्रीगुरुकी संज्ञा इस प्रकार वर्णित है—

सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥
देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ॥
(अनु० १७ । १३२-१४५)

उमा ब्रह्मविद्या हैं

उपर्युक्त श्रीशिवसहस्रनामके उमापति तथा उमाकान्त नामकी व्याख्यामें टीकाकार श्रीनीलकण्ठ इस प्रकार लिखते हैं—

'उमा ब्रह्मविद्या तस्याः पतिर्यथेष्टविनियोगात्स्वा... उमया तयैव ब्रह्मविद्याकान्तः कामिनो वशीकृतः ।' अर्थात्—

—'उमा ब्रह्मविद्या है, उसका पति, यथेष्ट विनियोगके का... उसका स्वामी, अर्थात् उमाके अर्थसे ब्रह्मविद्याका कान्त, ब्रह्मविद्या... कामना करनेवालोंको वशमें किया हुआ ।'

उसी अनुशासन पर्वके १८ वें अध्यायमें श्रीयुधिष्ठिरजीके प्र... ऋषियोंका उपदेश वर्णित है । उस प्रसङ्गमें कपिल-मुनिजीने ... सांख्यतत्त्वका निरूपण किया है उसमें ब्रह्म और ईश्वरके अस्तित्व... मुख्यतः स्वीकार किया है, निरीश्वरवादका वहाँ नाममात्र भी न... है । श्रीकपिलमुनि आगे कहते हैं कि—

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसम्मतः ।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः ॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम् ।

(अनु० १८ । ४-५)

—'मैंने जन्म-जन्मान्तरमें भगवान् शङ्करकी आराधना... उन्हें प्रसन्न करके ऋषि-देव-सम्मत सांख्यज्ञानको प्राप्त किया है।'

श्रीविश्वामित्र-ऋषि कहते हैं—

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम् ।
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः ॥
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।

(अनु० १८ । १६-१७)

—'मैं पहले क्षत्रिय था, मेरी इच्छा हुई कि मैं ब्राह्मण बनूँ

और मैंने श्रीभगवान् शङ्करकी आराधना की, और उनके प्रसादसे मुझे अत्यन्त दुर्लभ ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ।'

श्रीअसित-देवल जो इन्द्रके शापसे धर्म-भ्रष्ट हो गये थे, उनका भी श्रीशङ्करकी कृपासे ही उद्धार हुआ था। यथा—

असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम्॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत्तदा।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददात् प्रभुः॥

(अनु० १८। १७-१८)

अर्थात् 'असित और देवल ऋषियोंने महाराज युधिष्ठिरसे कहा कि, हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रके शापसे हमारा धर्म नष्ट हो गया था तब श्रीशङ्करजीने हमें धर्म, उत्तम यश और आयु प्रदान किया।' श्रीवेदव्यास-सरीखे पुत्र पाराशरजीको श्रीशिवकी आराधनासे ही प्राप्त हुए थे। यथा—

प्रसाद्येह पुरा शर्वं मनसाचिन्तयं नृप।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः॥
वेदव्यासः श्रियावासो ब्राह्मणः करुणान्वितः।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद्वै महेश्वरात्॥
इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः।
मयि संभावना यास्याः फलात्कृष्णो भविष्यति॥

(अनु० १८। ४०-४२)

पाराशरने कहा कि 'हे राजन्! मैंने पहले श्रीशिवको प्रसन्न किया था और मनमें विचारा कि महातपस्वी, महायोगी, महायशस्वी,

वेदका विस्तार करनेवाले लक्ष्मीके निवासस्वरूप, ब्रह्मवेत्ता औ
कृपालु पुत्र मुझे महेश्वरसे मिले। देवदेव श्रीमहादेव मेरे मन
बात जान गये और उन्होंने मुझसे कहा कि तेरे मनमें मुझसे जि
वरके पानेकी इच्छा है उसको मैं जान गया हूँ, तेरे यहाँ कृ
नामक पुत्र होगा।'

तामसिक और राजसिक अशुभ कर्मसे शिव-प्राप्ति असम्भ
है। बहुत-से लोगोंकी यह धारणा है कि रजोगुणी तथा तमोगु
कर्मों एवं गुणोंसे भगवान् शङ्कर प्रसन्न होते हैं, परन्तु य
उनकी बिल्कुल भूल है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुख
कहते हैं—

ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः॥
ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम्।
ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति।
मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते।
कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित्।
एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः।
(अनु० १८। ६२-६६। ६८-७०

रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तिवाले लोग श्रीमहादेवको नहीं पा सकते । सदा श्रीशङ्करकी ही भावना करनेवाले द्विज उन्हें प्राप्त करते हैं । जो भक्त सदा हृदयमें महेश्वरका चिन्तन करते हैं वह वनमें रहनेवाले उपासक मुनियोंके समान हैं । श्रीरुद्र जब प्रसन्न होते हैं तब वह ब्रह्मा, विष्णु तथा देवताओंके साथ इन्द्रत्व, एवं तीनों लोकोंका आधिपत्य तक प्रदान करते हैं । हे तात ! जो मनसे भी श्रीशङ्करकी शरण लेते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह देवताओंके साथ देवलोकमें निवास करते हैं । हे केशव ! कीट-पक्षी-पतङ्ग तथा तिर्यक्-योनिमें उत्पन्न जीवोंको भी महादेवके शरण आनेसे कहीं भी भय नहीं रह जाता । इस प्रकार जो उपासक मनुष्य इस भूलोकमें श्रीमहादेवजीकी भक्ति करते हैं वे संसारके वशमें नहीं होते, ऐसा मेरा दृढ़ मत है । अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्याः
सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥
विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः
किञ्चित्तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टा-
नभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥
(अनु० १८ । ७८-७९)

'भूमिमेंसे बीज आदिके समान अपनेमेंसे उत्पन्न होने वाले ईश्वर आदिके कर्त्ता, पञ्च महाभूतोंके उत्पादक और वर्ग सब लोकोंकी रक्षा करनेवाले देवता भी शङ्करसे उत्पन्न होते और वे प्रकट होकर महादेवकी पुरातन सृष्टिकी रक्षा करते हैं महर्षि तप करके जिनको खोजते हैं उनकी अपेक्षा सब दे स्थूल हैं और वह अनिर्वचनीय तत्त्व प्राणियोंको उत्पन्न करने है, उस परब्रह्मरूपी तत्त्वको मैं मोक्षके लिये प्रणाम करता जिनकी मैंने स्तुति की है वह अधिकारी प्रभु मुझे अभीष्ट वर दे

तत्त्व-सिद्धान्त

यथार्थ सिद्धान्त यह है कि परमेश्वर एक और अनादि है वही महाविष्णु हैं, वही महेश्वर हैं, वही श्रीकृष्ण और श्रीराम वही शक्ति और महेश्वरी हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। उन ईश्वरके अनेक रूप हैं। इसी कारण वाल्मीकिजीने अपने रामाय कहा है कि, जो अपने इष्टसे अन्य दूसरे इष्टकी निन्दा अ लघुत्व प्रकाशित करते हैं वे बड़े पातकी हैं, क्योंकि सभी इष्ट एक ही हैं, भिन्न नहीं। अतएव किसी इष्टदेवकी निन्दा अ लघुत्व प्रकाशित करनेसे अपने ही इष्टदेवकी निन्दा और लघु है। महाभारतके टीकाकार भी इसी एकत्वके सिद्धान्तको मा हैं। उसी एक परात्पर पदको कोई शिवलोक, कोई गोलोक, क साकेत, कोई वैकुण्ठ और कोई श्वेतद्वीप कहते हैं, परन्तु एक और ईश्वर एक हैं। वैष्णव श्रीमहाविष्णुको शिव-ब्रह्मा आवेष्टित और स्तुति किये जाते देखते हैं तथापि श्रीशिव

श्रीविष्णुमें रत्तीभर भी भेद नहीं है। सभी उपासकोंको अपने इष्टकी प्राप्तिके निमित्त शक्ति और जगद्गुरु श्रीशिवकी सहायता आवश्यक है, उसके लिये उनकी आराधना करनी चाहिये। इससे अनन्यतामें बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि इनकी कृपा-प्राप्तिका मुख्य उद्देश्य तो इष्टकी ही प्राप्ति है।

वैष्णवको शक्ति और श्रीशिवकी आराधना अपने इष्टकी प्राप्तिके निमित्त अवश्य करनी चाहिये। तथा इसीप्रकार शाक्त और शैवको अपने-अपने इष्टदेवकी प्राप्तिके लिये श्रीविष्णुकी कृपाकी याचना करनी चाहिये। विघ्नोंके नाशके लिये सबको श्रीगणेशकी, तथा स्वास्थ्य और बलके लिये श्रीसूर्यकी उपासना अवश्य करनी चाहिये।



शिवपुराणमें शिव-तत्त्व

परात्पर शिव

प्रलयका अवसान होनेपर पुनः सृष्टिके प्रारम्भके पूर्व ज
परब्रह्म सृष्ट्युन्मुख होते हैं, तब वे परात्पर सदाशिव कहलाते हैं
वही सृष्टिके मूलकारण हैं। मनुस्मृतिमें इन्हें 'स्वयम्भू' क
गया है। यथा–

ततः[1] स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

(मनु० १।६)

तब स्वयम्भू भगवान् अव्यक्त होनेपर भी प्रलयके तम
दूरकर प्रकाशित हुए और महाभूत एवं अन्य सब बड़े शक्तिशा
तत्त्व उनसे प्रकट हुए। शिवपुराणमें भी इसी आशयका वचन है

सिसृक्षया पुराऽव्यक्ताच्छिवः स्थाणुर्महेश्वरः।
सत्कार्यकारणोपेतः स्वयमाविरभूत्प्रभुः॥

इन्हींको श्रीमद्भगवद्गीतामें महेश्वर संज्ञा दी गयी है।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(१३।२२)

साक्षी, हितोपदेष्टा, पोषक एवं भोक्तारूप जो महेश्वर परमात्मा है वह इस शरीरमें परम पुरुषकी भाँति है। शिवपुराणका वचन है कि शिव प्रकृति और पुरुष दोनोंसे परे हैं। यथा—

तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रकृतेः पुरुषस्य च॥

यह महेश्वर अपनी इच्छा-शक्तिद्वारा सृष्टिकी रचना करते हैं। श्रुतिका वचन है—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'** (श्वे० उप० ४।१०) शिवकी यह शक्ति दो रूपमें कार्य करती है—(१) मूलप्रकृति और (२) दैवीप्रकृति। गीतामें मूलप्रकृतिको अपरा प्रकृति कहा है जिससे पञ्चभूत और अन्तःकरण आदि दृश्य पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई। परा प्रकृति चैतन्यशक्ति है जो इस अपरा प्रकृतिको नाम-रूपमें परिवर्तित करती है। अपरा प्रकृतिको 'अविद्या' और पराको 'विद्या' कहते हैं। परा प्रकृति को 'पुरुष' भी कहते हैं। इन दोनों प्रकृतियोंके नायक और प्रेरक श्रीशिव—महेश्वर हैं।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं विद्येति परिगीयते।
ते उभे ईशते यस्तु सोऽन्यः खलु महेश्वरः॥
(वा० सं० पू० ६।४

माया प्रकृतिरुद्दिष्टा पुरुषो माययावृतः।
सम्बन्धो मलकर्मभ्यां शिवः प्रेरक ईश्वरः॥
(वा० सं० पू० ५।१

शिव त्रिदेवसे पृथक् हैं

सगुण अर्थात् मायासंवलित ब्रह्म, जिनकी पुरुष संज्ञा है शिवकी इच्छाके अनुसार गुणोंके क्षोभसे रजोगुणसे ब्रह्मा, स विष्णु और तमसे रुद्ररूप हुए। ये तीनों ब्रह्माण्डके त्रिदेव हैं शिव अनेक कोटि ब्रह्माण्डोंके नायक हैं। शिवपुराण वा० स पू० अ० १० का वचन है—

पुरुषाधिष्ठितात्पूर्वमव्यक्तादीश्वराज्ञया।
बुद्ध्यादयो विशेषान्ता विकाराश्चाभवन् क्रमात्॥१॥
ततस्तेभ्यो विकारेभ्यो रुद्रो विष्णुः पितामहः।
कारणत्वेन सर्वेषां त्रयो देवा विजज्ञिरे॥२॥
सृष्टिस्थितिलयाख्येषु कर्मसु त्रिषु हेतुताम्।
प्रभुत्वेन सहैतेषां प्रसीदति महेश्वरः॥४॥

प्रथम ईश्वरकी आज्ञासे पुरुषाधिष्ठित अव्यक्तसे क्रमशः बुद्धि लेकर विशेषपर्यन्त विकार उत्पन्न हुए। उनमें ब्रह्मा, विष्णु* और रुद्र—ये तीन देव जगत्के कारणरूप उत्पन्न हुए। ये तीनों क्रमशः सृष्टि, स्थिति और लयके कार्यमें महेश्वर द्वारा नियुक्त हैं। इन त्रिदेवों

* महाविष्णु श्रीशिवके समान त्रिदेवान्तर्गत विष्णुसे उच्च हैं और व वैष्णवोंके इष्ट हैं। उन्हींके अवतार श्रीराम और श्रीकृष्ण हुए।

परस्पर कोई भेद नहीं है। तीनों एक हैं और तीनोंका कार्य मिलकर होता है। अर्थात् तीनों ही एक दूसरेके कार्यमें सहायता देते हुए एकमत होकर कार्य करते हैं। जो इन तीनोंमें भेद समझता है, एकको बड़ा और दूसरेको छोटा कहता है वह शिव-पुराणके निम्नलिखित वचनके अनुसार राक्षस अथवा पिशाचके समान है, इसमें सन्देह नहीं। शिवपुराणमें (वायुसं० पूर्व० १०। ६–८) लिखा है—

एते परस्परोत्पन्ना धारयन्ति परस्परम्।
परस्परेण वर्द्धन्ते परस्परमनुव्रताः॥
क्वचिद्ब्रह्मा क्वचिद्विष्णुः क्वचिद्रुद्रः प्रशस्यते।
नानेन तेषामाधिक्यमैश्वर्यञ्चातिरिच्यते॥
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः।
यातुधाना भवन्त्येव पिशाचा वा न संशयः॥

चतुर्व्यूह

गुणत्रयसे अतीत भगवान् शिव चार व्यूहोंमें विभक्त हैं १–ब्रह्मा, २–काल, ३–रुद्र और ४–विष्णु। शिव सबके आधार हैं और शक्तिकी भी उत्पत्तिके स्थान हैं, जैसा कि शिवपुराणके उपर्युक्त प्रकरणमें लिखा है—

देवो गुणत्रयातीतश्चतुर्व्यूहो महेश्वरः।
सकलः सकलाधारशक्तेरुत्पत्तिकारणम्॥
सोऽयमात्मा त्रयस्यास्य प्रकृतेः पुरुषस्य च।
लीलाकृतजगत्सृष्टिरीश्वरत्वे व्यवस्थितः।

यः सर्वस्मात्परो नित्यो निष्कलः परमेश्वरः।
स एव तत्तदाधारस्तदात्मा तदधिष्ठितः॥
तस्मान्महेश्वरश्चैव प्रकृतिः पुरुषस्तथा।
सदाशिवभवो विष्णुर्ब्रह्मा सर्वं शिवात्मकम्॥

(वा० सं० पू० १०।९-१

त्रिदेवान्तर्गत रुद्र गुणातीत शिवसे स्वरूपतः पृथक् हैं

श्रीशिव ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता त्रिदेवोंके अन्तर्गत रुद्रसे पृथक् हैं। इसके और भी प्रमाण श्रीशिवपुराणमें हैं। यथा—

दक्षिणाङ्गान्महेशस्य जातो ब्रह्मात्मसंज्ञकः।
वामाङ्गादभवद्विष्णुस्ततो विद्येतिसंज्ञितः।
हृदयान्नीलरुद्रोऽभूच्छिवस्य शिवसंज्ञितः॥

इससे यह भी सिद्ध होता है कि त्रिदेवोंमें भी एक दे रुद्र हैं, अतएव रुद्र एक ही हैं—यद्यपि ग्यारह गुण-कर्मके का उनके ग्यारह काम और ग्यारह नाम हैं।

शिव-लिङ्ग केवल चिन्मय है, स्थूल नहीं

सदाशिवसे जो चैतन्य शक्ति उत्पन्न हुई और उससे जो चिन्मय आदिपुरुष हुए, वही यथार्थमें शिवके लिङ्ग हैं, क्योंकि उन्हींसे चराचर विश्वकी उत्पत्ति हुई, वे ही सबके लिङ्ग अथवा कारण हैं और उन्हींमें विश्वका लय होगा। शिवपुराणमें लिखा है

कि समस्त लिङ्ग-पीठ (आधार) अर्थात् प्रकृति पार्वती और लिङ्गको चिन्मय पुरुष समझना चाहिये । इन दोनोंके संयोगसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई । यथा—

पीठमम्बामयं सर्वं शिवलिङ्गञ्च चिन्मयम् ।

शिवपुराणमें शिवके वाक्य हैं कि जो लिङ्ग (महाचैतन्य) को संसारका मूल कारण और इस कारण-जगत्को लिङ्गमय (चैतन्यमय) समझकर इस आध्यात्मिक दृष्टिसे लिङ्गकी पूजा करता है वही मेरी यथार्थ पूजा करता है । यथा—

योऽर्चयार्चयते देवि पुरुषो मां गिरेः सुते ।
लोकं लिङ्गात्मकं ज्ञात्वा लिङ्गे योऽर्चयते हि माम् ॥
न मे तस्मात्प्रियतरः प्रियो वा विद्यते ततः ।

शिवपुराणके अनेक स्थलोंमें (उदाहरणतः विद्ये० सं० अ० ६) और लिङ्गपुराणमें भी कथा आती है कि सृष्टिके आदिमें अर्थात् किसी ब्रह्माण्डके प्रारम्भमें ब्रह्मा और विष्णुको लिङ्गके दर्शन हुए जिसका आदि-अन्त दोनोंने नहीं पाया । उसके बाद उस लिङ्गमें प्रणवके अक्षर प्रकट हुए । प्रणवके अक्षरोंके प्रकट होनेका तात्पर्य नाद अर्थात् शब्द-ब्रह्मका प्रकट होना है जो सृष्टिके समस्त पदार्थोंका आदिकारण है । ये विष्णु और ब्रह्मा उस ब्रह्माण्डके त्रिदेवान्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु थे न कि महाविष्णु, जिनमें और सदाशिवमें भेद नहीं है । लिङ्गसे तात्पर्य यहाँ महाचैतन्यमय आदिपुरुषका

है जिसके सङ्कल्प अथवा इच्छा-शक्तिमें सम्पूर्ण विश्व निहित है और उसीसे इस विश्वकी उत्पत्ति हुई।

पञ्च और अष्टमूर्ति

शिवपुराणकी सनत्कुमारसंहिताके छठे अध्यायमें लिखा है कि शिवकी प्रथम मूर्ति क्रीड़ा करती है, दूसरी तपस्या करती है, तीसरी लोकसंहार करती है, चौथी प्रजाकी सृष्टि करती है और पाँचवीं ज्ञान-प्रधान होनेके कारण सद्वस्तुयुक्त सम्पूर्ण संसारको आच्छन्न कर रखती है। वही ईशानमूर्ति सबके प्रभु, सर्व-वर्तमान, सृष्टि और प्रलयकर्ता और सबके रक्षक हैं। उनका नाम ईशान है।

उक्त पुराणकी वायवीय संहिताके चौथे अध्यायमें लिखा है कि श्रीशिवकी ईशान नामकी परमोत्तम प्रथम मूर्ति साक्षात् प्रकृति-भोक्ता, क्षेत्रज्ञ पुरुषमें अधिष्ठित रहती है। तत्पुरुष नामकी दूसरी मूर्ति सत्त्वादि गुणाश्रय, भोग्य प्रकृतिमें अधिष्ठित है। तीसरी घोराख्य मूर्ति धर्मादि अष्टाङ्गसंयुक्त बुद्धिमें अवस्थित रहती है। चौथी मूर्ति जिसे वामदेव कहते हैं, अहङ्कारकी अधिष्ठात्री है और पाँचवीं सद्योजात मूर्ति मनकी अधिष्ठात्री है। श्रीशिवकी अष्टमूर्तियाँ—शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, क्षेत्रज्ञ, सूर्य और चन्द्रमें अधिष्ठित रहती हैं।

अर्धनारीश्वर

श्रीशिवपुराणकी वायवीय संहिता (पूर्वभाग) के १३ और

१४ वें अध्यायमें कथा आती है कि जब ब्रह्माकी मानसिक सृष्टिसे प्रजाकी वृद्धि न हुई तब उन्होंने प्रजावृद्धिका ठीक उपाय जाननेके लिये तपस्या करना प्रारम्भ किया। तपस्याके कारण ब्रह्माके मनमें आद्याशक्ति उदित हुई। उस शक्तिके आश्रयसे ब्रह्मा त्र्यम्बकेश्वर शिवके ध्यान करनेमें प्रवृत्त हुए। श्रीशिव ध्यानके प्रभावसे संतुष्ट होकर अर्धनारीश्वर अर्थात् आधी स्त्री (शक्ति) और आधे पुरुष (शिव) के रूपमें ब्रह्माके समक्ष प्रकट हुए। ब्रह्माने शिव और उनकी शक्ति दोनोंकी स्तुति की। स्तुतिसे प्रसन्न होकर श्रीशिवने अपने शरीरसे एक देवीकी उत्पत्ति की जिनकी संज्ञा परमा शक्ति थी। ब्रह्माने उक्त श्रीदेवीसे कहा कि 'मैंने अबतक मनद्वारा देवतादिकी उत्पत्ति की है किन्तु वे बार-बार उत्पन्न होकर भी वृद्धिगत नहीं हो रहे हैं। अतएव अब मैं मैथुन-जन्य सृष्टि-द्वारा प्रजाकी वृद्धि करना चाहता हूँ। इसके पूर्व आपसे अक्षय नारी-कुलकी उत्पत्ति न हुई जिसके कारण मैं स्त्रीको नहीं बना सकता। अतएव आप कृपाकर मेरे पुत्र दक्षके यहाँ कन्यारूपमें जन्म लीजिये।' ऊपरकी कथासे तीन परमोत्तम सिद्धान्त प्रकट होते हैं। एक तो यह कि शिव लिङ्गरूपमें संसारके समस्त चराचर प्राणियोंके साँचे हैं और जो साँचेकी भाँति सङ्कल्परूपमें लिङ्गके अन्दर नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि परात्पर शिवकी प्राप्ति उनकी शक्तिसे सम्बन्ध होनेपर ही होती है, जैसे ब्रह्माको हुई। तीसरी यह कि संसारकी मानवी प्रजाका कारण अर्धनारीश्वर होनेसे सभी पुरुष शिवरूप और सब स्त्रियाँ शक्तिरूपिणी हैं, जैसा कि शिवपुराणमें लिखा है—

शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।

शिव जगद्गुरु

श्रीशिवका एक बृहत् परम कल्याणकारी कार्य इस विश्व... जगद्गुरुके रूपमें नाना प्रकारकी विद्या, योग, ज्ञान, भक्ति आदि... प्रचार करना है, जो बिना उनकी कृपाके यथार्थरूपमें प्राप्त न... हो सकते । श्रीशिव केवल जगद्गुरु ही नहीं हैं किन्तु अपने क... कलाप, आहार-विहार और संयम-नियम आदिद्वारा जीवन्मुक्त... लिये आदर्श हैं। लिङ्गपुराणके अध्याय ७ और शिवपुरा... शिवके योगाचार्य होनेका और उनके शिष्य-प्रशिष्योंका विस्... वर्णन है । शिवपुराणका कथन है——

युगावर्त्तेषु शिष्येषु योगाचार्यस्वरूपिणा।
तत्र तत्रावतीर्णेन शिवेनैव प्रवर्त्तते॥
संक्षिप्यास्य प्रवक्तारश्चत्वारः परमर्षयः।
रुरुर्दधीचोऽगस्त्यश्च उपमन्युर्महायशाः॥
ते च पाशुपता ज्ञेयाः संहितानां प्रवर्त्तकाः।
तत्सन्ततीनां गुरवः शतशोऽथ सहस्रशः॥

प्रति युगके आरम्भमें श्रीशिव योगाचार्यके रूपमें अवती... होकर शिष्योंको शिक्षा प्रदान करते हैं। चार बड़े ऋषियोंने इस... (योगशास्त्र) को संक्षेपमें वर्णन किया। उनके नाम रुरु, दधीच, अगस्त्य और महायशा उपमन्यु हैं। ये पशुपतिके उपासक

और पाशुपत संहिताओंके प्रवर्त्तक हुए। इनके वंशमें सैकड़ों-हजारों गुरु उत्पन्न हुए। शिवपुराणकी वायवीय संहिताके उत्तर-भागके नवें अध्यायमें इन योगाचार्यों और उनके शिष्य-प्रशिष्योंका सविस्तर वर्णन है और उनके नाम भी वहाँ दिये गये हैं। प्रथम २८ योगाचार्य हुए, ४×७=२८। इन २८ के चार-चार शिष्य हुए, जिनकी संख्या २८×४=११२ हुई। इनमें सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, कुथुमि, मित्रक आदिके भी नाम हैं। लिखा है कि संसारकी मङ्गल-कामना ही इनका व्रत है। इस अध्यायके अन्तका निम्नश्लोक बड़े महत्त्वका है, वह इस प्रकार है—

स्वदेशिकानिमान् मत्वा नित्यं यः शिवमर्चयेत्।
स याति शिवसायुज्यं नात्र कार्या विचारणा॥२८॥

अर्थात् जो इनको अपना सद्गुरु मानकर शिवकी उपासना-ध्यान करता है, वह अनायास शिवकी साक्षात् प्राप्ति करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऊपरके वाक्योंसे यह सिद्ध है कि ये सद्गुरु इस समय भी वर्तमान रहकर योग्य साधकोंकी अदृश्य अथवा दृश्यभावसे सहायताकर इष्टोन्मुख और शिवोन्मुख करते हैं। और साधक इनमेंसे किसी एकको अपना सद्गुरु वरण करके साधना करनेसे अवश्य इष्टका लाभ करता है। इन सद्गुरुओंमेंसे किसी एकको सद्गुरु वरण किये बिना कोई अपने इष्टकी उपासनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भाव यह है कि जगद्गुरु श्रीशिवकी इच्छानुसार उनके पुत्रकी भाँति ये योगाचार्य और

उनके शिष्य-प्रशिष्यगण ज्ञान, योग, भक्ति आदिके प्रचारमें प्र
प्रवृत्त रहते हैं और योग्य साधकोंकी अदृश्य भावसे सहायता क
हैं। हमलोगोंमें जब कभी सद्‌वृत्ति, सद्विचार, सत्कामना, उ
साधनोंमें प्रवृत्ति, भक्ति-भाव, सत्य-ज्ञानका अनुसन्धान आ
सद्भाव और सद्‌गुण प्राप्त होते हैं अथवा भविष्यमें क्रमशः हो
वे सब इन्हीं सद्गुरुओंकी कृपाका फल है। अतएव इनकी अ
कृपापर दृढ़ विश्वास रखकर तथा इनके प्रत्यक्ष न होनेपर
इनको सद्गुरु मानकर इनमें भक्ति और श्रद्धा करनी चाहिये एवं इन
स्मरण भी करना चाहिये। ऐसा करनेपर ये विशेष सहायता क
सकेंगे और यदि साधकपर शिवकी कृपा हुई तो प्रत्यक्ष भा
अन्तरमें उपदेश भी करेंगे।

पाशुपत योग

इसका विस्तारपूर्वक वर्णन शिवपुराणकी सनत्कुमारसंहित
अ० ५६ से ५८ तकमें है, जिसका साधना-सम्बन्धी सू
सारांश इस प्रकार है। आत्माकी शिव-तत्त्वके साथ एकता क
इन्द्रियोंका निग्रह करना यथार्थ भस्म धारण करना है, क्यों
श्रीशिवजीने ज्ञान-चक्षुद्वारा कामको भस्म किया था। ॐकार
उपासना जपद्वारा करनी चाहिये; यथार्थ ज्ञान, योग, क्रि
नुष्ठानकी प्राप्ति करनी चाहिये। हृदयकर्णिकामें एक सू
सर्वतोमुख, दस नाड़ियोंसे वेष्टित कमल है—उसीमें जीवात्मा
वास है। यही जीवात्मा सूक्ष्मरूपसे मनमें रहता है और य
चित्त और पुरुषरूप है। वैराग्य, धर्म, समता आदिके अभ्यास

तमोगुण, रजोगुणके विकारोंको पराभव करके और सद्गुरूपदिष्ट योगाभ्याससे* सूक्ष्म नाड़ीरूपी दशाग्निको भेद करके भूतोंके आधार सोमका पर्यटन करे। वह अभ्यन्तरस्थ सोम उस नाड़ीद्वारा तर्पित होकर वृद्धिको प्राप्त करता है और तब जीव मध्यगत शिराको आह्वान करता है। प्राज्ञ योगी जब-जब सोम-शिखाद्वारा तर्पित होते हैं, तभी जाग्रत् और सुप्त अवस्थाको जीतकर अजाग्रत् अवस्थामें ध्यानयोगद्वारा ध्येयमें लय होते हैं। ५८ वें अध्यायमें श्रीसनत्कुमारने व्याससे जो कुछ कहा उसका संक्षेप यों है—'मुझको गुरुरूपमें जानकर, मेरेद्वारा कथित विद्याका अभ्यास करके, उपाधियोंपर अधिकार करके और पृथक् होकर तत्त्वज्ञानके २६ तत्त्वोंको लाभ करे। श्वास और नाड़ियोंको जीतकर जो सूक्ष्म आत्मा हृत्-पद्मकी कर्णिकामें है उसमें मनको एकाग्रकर स्थित होवे। योगी विद्या-शक्तिके आश्रयसे ही नाड़ियोंका दर्शन करके अभ्यन्तरमें परमात्माका दर्शन पाते हैं।'

ऊपरके कथनमें एक बहुत विशेष रहस्य है। वह यह है कि श्रीसनत्कुमारने व्याससे कहा कि मुझको सद्गुरु वरणकर इस योगमें प्रवृत्त होना चाहिये। यह सद्गुरुवरण त्रिकालके लिये सत्य है। यथार्थ उच्च आध्यात्मिक योगके आचार्य श्रीसनत्कुमार आदि अदृश्य सद्गुरुगण हैं। और बिना इनकी कृपा-दृष्टिके साधक उन्नति नहीं कर सकता। ये प्रत्येक यथार्थ साधककी ओर अपनी कृपा-दृष्टि रखते हैं जैसा पहले कहा जा चुका है। प्रत्येक साधकको इन्हें सद्गुरु मानकर और इनपर श्रद्धा-विश्वास-

* इस योगाभ्यासकी शैलीका किञ्चित् वर्णन ग्रन्थमें है, किन्तु बिना गुरुके बतलाये उसे कोई समझ नहीं सकता।

भक्ति रखकर अपनी साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये। ऐसा कर… अदृश्य भावसे किसी-न-किसी सद्गुरुसे साधकको सहा… मिलेगी और साधनाकी विघ्न-बाधाएँ दूर हो जायँगी।

पूजा और ध्यान

शिवपुराणमें शिव और पार्वतीके संवादमें पूजाका … विस्तारसे दिया हुआ है। संक्षेपमें मुख्य साधनाका प्रकार यह … कि स्नान करके शिव, शिवा और गुरुका चिन्तन करे। प… एकाग्रचित्त होकर पूर्व अथवा उत्तर-मुख बैठकर दहन-प्लावना… पञ्चतत्त्वोंको शुद्ध करना चाहिये। अङ्गन्यास, मन्त्रन्यासादि क… देवताङ्गमें षडङ्गन्यास करना चाहिये। इसके बाद विद्या-स… स्वकीय रूप, ऋषि, छन्द, अधिदैवत शक्ति और वाच्य आ… स्मरण करके पञ्चाक्षर मन्त्र जपना चाहिये। जपके साथ-… प्राणायाम करना चाहिये अथवा शिव और शिवा दोनोंकी मूर्ति… ध्यान करना चाहिये। प्राणायामयुक्त जप उत्तम है किन्तु प्रा… यामके साथ चार सौ बार मन्त्र-जप करना चाहिये। इस प्रका… पाँच प्राणायाम यथेष्ट हैं। प्राणायामयुक्त जपकी अपेक्षा ध्यान… जप हजारगुना अधिक महत्त्वका है। सदाचारसम्पन्न होकर ध्या… जपादि करनेसे मङ्गलकी प्राप्ति होती है। आचार परम … आचार ही परम धन, आचार परम विद्या और आचार परम … है। आचारविहीन पुरुष इस लोकमें निन्दित होकर परलो… बहुत दुःख भोगते हैं। अतएव अवश्य-अवश्य-अवश्य सदाचार… होना चाहिये।

स्मरण रहे कि साधनामें ध्यान मुख्य है और इसके द्वा… इष्टकी प्रत्यक्ष प्राप्ति होती है। शिवपुराणकी वायवीय संहि…

उत्तर भागके अ० ८ में लिखा है कि पञ्चयज्ञमें ध्यान और ज्ञान-यज्ञ मुख्य हैं। जिनको ध्यान और ज्ञानकी प्राप्ति हुई, वे ही भवसमुद्रसे उत्तीर्ण हुए हैं—ऐसा जानना चाहिये। हिंसादि दोषवर्जित, विशुद्ध, चित्तको प्रशान्त करनेवाला और अपवर्गफल-प्रद ध्यानयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञकर्ता तो राजभवनके बाह्य कर्मचारीके समान हैं जिनको अल्प फल मिलता है। ध्यानी-को ईश्वरविग्रह प्रत्यक्ष भासता है और कर्मयोगीके लिये ईश्वर-देह स्थूल मिट्टी, काष्ठादिद्वारा कल्पित होता है। इस कारण ध्यानपरायण पुरुष शिवको यथार्थरूपसे जानते हैं। इसीलिये वे पाषाणमय अथवा मृण्मय मूर्तिपर निर्भर नहीं रहते। हृदयस्थ शिवको छोड़कर जो बाह्यरूपमें ही शिवकी पूजा करते हैं वे मानो हस्तगत फलको त्यागकर अपनी कोहनीको चाटते हैं। ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे ज्ञान एवं दोनोंसे मुक्ति मिलती है, इसलिये ध्यानयज्ञका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये। शिव-पुराणकी सनत्कुमारसंहिताके अ० ३८ में लिखा है—

पुरुषं शाश्वतं सूक्ष्मं द्रष्टव्यं ध्यानचक्षुषा।
यतते ध्यानयोगेन यदि पश्येत पश्यति॥

ध्यान हृदयमें ही होना चाहिये। शिवपुराणके अनेक स्थलोंमें उल्लेख है कि शिवका वास हृदयमें है और हृदयमें ही ध्यान करना चाहिये। यथा—

परमात्मा हृदिस्थो हि स च सर्वं प्रकाशते।
नाभिनाडीभिरत्यर्थं क्रीडामोहविसर्जनम्॥
स नाडीतोऽथ मन्तव्यो येन विश्वं हृदि व्रजेत्।
पूर्वास्ते हृदि तिष्ठन्ति तन्मनस्तत्परायणाः॥
स्वदेहायतनस्यान्तर्विचिन्त्य शिवमम्बया।
हृत्पद्मपीठिकामध्ये ध्यानयज्ञेन पूजयेत्॥

हठयोग और प्राचीन राजवि
अथवा राजयोग

शरीर और उसकी नाडियोंकी शुद्धि और स्वास्थ्यकी
करना हठयोगका मुख्य उद्देश्य है। आसनसे स्वास्थ्यकी
और व्याधिनाश होता है और इसका अभ्यास करनेमें कोई
नहीं। परन्तु इसमें शरीरविज्ञानका अनुभव पहले आवश्यक
इसलिये अनुभवी पुरुषके द्वारा सीखकर ही अभ्यास करना चाहि
नहीं तो व्याधिनाशके बदले व्याधिवृद्धि हो सकती है।

प्राणायाम

विधिपूर्वक किये हुए थोड़े प्राणायामसे दोषोंका नाश
है। सन्ध्योपासनामें तीनों समय तीन-तीन बार अर्थात् कु

बार प्राणायाम करनेकी विधि है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामें दस-दस बार अर्थात् कुल तीस बार करनेका आदेश है; किन्तु तीसों बार एक साथ करनेका आदेश नहीं। प्राणायाम करनेसे शरीरके भीतर शुष्कता आती है, इसके लिये अभ्यास करनेवालेको गोघृतका सेवन करना चाहिये। एक प्राणायाम ऐसा है जिसका रेचक ब्रह्मरन्ध्रसे मेरुदण्डके बीचकी सुषुम्ना नाडीमें किया जाता है और जो गुरुगम्य है। प्राणायाम करनेसे उन्माद भी होता है। एक साधकने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोमसे प्रणवकी ध्वनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योगके प्रथम और द्वितीय अंग यम-नियमकी प्राप्ति और आसनसिद्धिके बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रोंमें प्राणायामकी बहुत प्रशंसा की गयी है; किन्तु यह भी कहा गया है, जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराणमें मिलता है कि, वायु जीतनेपर भी मनको न जीतनेसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राणवायुसे उच्च है, क्योंकि प्राणवायु मनका अनुसरण करता है, परन्तु मन प्राणवायुका अनुसरण नहीं करता। काम-क्रोधसे उत्तेजित होनेपर श्वासकी गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होनेपर प्राण भी शान्त हो जाता है। किन्तु प्राणका निरोध करनेपर भी मनकी चञ्चलता पूरी दूर नहीं होती। इस कारण राजयोगमें प्राणनिग्रह न करके सीधे मनका निरोध किया जाता है, जिससे प्राणका निरोध हठके बिना स्वयं हो जाता है। हठयोगका भी सिद्धान्त है कि राजयोग ही हठयोगका लक्ष्य

है; किन्तु भेद यह है कि हठयोगके ग्रन्थका कथन है कि हठ के बिना राजयोगकी प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राज बिना व्यर्थ है। परन्तु राजयोगका सिद्धान्त है कि हठयोग योगकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है, वरं किञ्चित् बाधक है

आपत्ति

हठयोगकी बन्धसम्बन्धी क्रियामें भय नहीं है। धोती जलधौती स्वास्थ्यके लिये उत्तम है; किन्तु इनके बदले जठराग्निके भागको रबरके टयूब (Stomach Tube) के साफ करना और मलाशयको एनिमा (Enema) द्वारा करना उत्तम है। हठयोगकी क्रियामें ब्रह्मचर्य और सात्त्विक जैसे गेहूँ, मूँगकी दाल, दूध, घी आदिका व्यवहार आवश्यक जो लोग राजसिक आहार—जैसे तेल, मिर्च, खटाई, कड़ुवा और तीखा आदि व्यवहार करते हैं वे रोगग्रस्त हो हैं; क्योंकि साधकका अन्तर्भाग इसे सहन नहीं कर सकता इस कारण स्वास्थ्योन्नतिके बदले 'योगे रोगभयम्' की उक्ति तार्थ होती है। कितने ही हठयोगके साधक केवल क्रियाके असमयमें मर गये अथवा रोगी हो गये। आजकल हठ तत्त्वको जाननेवाले गुरु प्रायः दुर्लभ हैं। यदि उपयुक्त गुरु और उनकी देखभालमें साधना की जाय तो कोई भय नहीं केवल हठयोगके अभ्यासमें यह दोष है कि इसके सब साध स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण स्थूल शरीरमें जो अ कारण आत्माभिमान है, उसकी कमी न होकर, उसकी पुष्टि है

है, जो अध्यात्मपथमें बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। राजयोगमें तो स्थूल शरीरको केवल घोर मायिक मानकर और केवल आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल मनोमय कोषसे अभ्यास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोष हठयोगमें यह है कि इसके अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीरसम्बन्धी होनेके कारण इसका जो परिणाम होता है वह मृत्युके समय स्थूल शरीर छोड़ देनेपर बेकार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता। किन्तु राजयोगकी मानसिक क्रियाका परिणाम जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है; क्योंकि मृत्युके साथ अन्तःकरणका नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीरका त्याग करनेके बाद भी बीजरूपसे वर्तमान रहता है।

चमत्कारकी तुच्छता

आजकल आकाशतरंगके कारण 'ब्राडकास्टिंग' द्वारा दूरकी बातें सुनी जाती हैं, अर्थात् विलायतका गाना भारतवर्षमें उसी क्षण सुना जाता है। इस तरह बिना यन्त्रकी सहायताके दूर-श्रवण या दूसरे प्रकारकी चामत्कारिक शक्तियाँ योगके द्वारा प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धि कहते हैं। किन्तु इन सिद्धियोंका परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। अनेक सिद्धियाँ असुरोंको भी प्राप्त थीं। ये योगमार्गके विघ्न हैं। अतएव सिद्धियाँ प्राप्त करनेकी दृष्टिसे हठ-योगका अभ्यास करना समीचीन नहीं है।

जड-समाधि

गर्मीके दिनोंमें मेंढक अपनी साँस और हृदयकी गतिको रोक-

× × ×

कर जमीनके नीचे बहुत दूरतक गर्मीसे बचनेके लिये चला
है और इस प्रकार समाधिमें जीता पड़ा रहता है। इस अव
शरीर-वित् (Cateliptic) कहते हैं। वह मेंढक वर्षा होने
अवस्थाको त्यागकर पुनः ऊपर आ जाता है। क्लोरोफार्म
भी वेहोशी हो जाती है और छुरीके आघातका भी प्रभाव
नहीं होता। इसी प्रकारकी हठयोगकी जड-समाधि है। ए
परिचित जड-समाधि-सिद्ध साधुने मुझको लिखा कि मैं
आत्महत्या करूँगा; क्योंकि मेरा जीवन व्यर्थ हुआ। इस त
समाधि-सिद्ध अन्य योगियोंके असीम लोभ और तृष्णाकी कहा
सुनी जाती हैं। एक कथा यह प्रसिद्ध है कि एक बा
घोड़ा पानेका वचन पाकर किसी राजाके सामने समाधि लगा
जड-समाधि भंग करनेके लिये तो दूसरोंकी आवश्यकता होत
जिसके अभावमें वह समाधि-भङ्ग कर उठ न सका।
राजाने उसे एक गुफामें रख दिया जो कालान्तरमें जमीनके
दब गयी। बहुत दिनों बाद उस राजाके उत्तराधिकारियोंने
जमीनको खुदवाया। खुदाईमें वह गुफा निकली और
समाधिस्थ वह बाजीगर भी मिला। किसी प्रवीण व्यक्तिने
युक्तिसे उसे जगाया। समाधिसे कई सौ वर्ष बाद जागकर
कहते हैं, उसने घोड़ा ही पानेकी प्रार्थना की। वह इतनी
समाधि पानेपर भी अज्ञानी ही रहा। वास्तवमें राजयोगकी चै
समाधि ही यथार्थ समाधि है, जो प्रत्याहारकी सिद्धि हो
धारणा और ध्यानसे प्राप्त होती है और जिसकी प्राप्ति हो

संयमद्वारा संसारके लिये हितकर ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

कुण्डलिनीका दुरुपयोग

मन और इन्द्रियका दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यासके द्वारा कुण्डलिनीका उत्थान और षट्चक्रवेध करनेसे बड़ी हानि होती है । भुवर्लोकके राजसिक-तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकारका मायाजाल फैलाकर, असत्य भाषण करके, असत्य दृश्य दिखाकर, साधकके दोषोंको बढ़ाकर तथा उसे भ्रममें डालकर उसका अधःपतन करा देते हैं । यदि साधक इनसे बच भी जाय तो भी वह उस जन्ममें योगोन्नति नहीं कर सकता; क्योंकि उसके चक्र निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं । जिस तरह किसी फूलकी कलीको तोड़कर उसे खिलानेका यत्न करनेपर वह फूल मुरझा जाता है, उसी तरह हठयोगकी क्रियासे चक्र नष्ट-से हो जाते हैं ।

अनाहत शब्द

कान बन्द कर लेनेपर जो दश प्रकारके शब्द सुनायी पड़ते हैं वे सूक्ष्म आकाशतरंगोंके शब्द अथवा भुवर्लोकके शब्द हैं । ये शब्द भौतिक अथवा भुवर्लौकिक हैं; यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द अथवा परम नाद नहीं हैं । इन शब्दोंको निरन्तर सुननेसे किसी-किसीके मस्तिष्कमें गर्मी आ जाती है और किसी-किसीका अपने ऊपरसे प्रभुत्व जाता रहता है और वह भुवर्लोकके मायाजालमें फँस जाता है ।

× × ×

भौतिक चमत्कार

विषपान आदि चमत्कार भी योग नहीं हैं। शारी
असाधारण बल-प्रदर्शन भी योग नहीं है, जिसे प्रोफेसर राम
आदि व्यायामप्रवीण भी दिखाया करते हैं।

अजपा योग

किसी मन्त्रका दो भाग करके एक भागको पूरक करते
अर्थात् श्वासके भीतर जाते समय जपना और पूरक पूरा हो ज
पर बहुत थोड़ी देर रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और
रेचक करते हुए अर्थात् श्वासको बाहर निकालते समय मन्त्र
दूसरे भागका जप करना और रेचक पूरा हो जानेपर फिर ब
थोड़ी देर रुक जाना—यह अजपा योग है। यदि कोई मन्त्र
हो तो पूरक करते हुए 'सो' का उच्चारण करना (पूरक क
समय स्वाभाविक ढंगसे 'सो' शब्दका उच्चारण होता है), उ
बाद थोड़ा रुक जाना, फिर रेचक करते हुए 'अहम्' का उच्चा
करना (रेचकके समय श्वास निकलनेसे 'अहम्' शब्दका स्वा
विक उच्चारण होता है), फिर थोड़ा रुक जाना—इसे भी अज
जप ही कहते हैं। इसमें मन्त्रका उच्चारण करनेकी आवश्यक
नहीं है; आवश्यकता है केवल श्वासके पूरक और रेचककी गति
ध्यान देनेकी, जिससे स्वयं मालूम होगा कि 'सोऽहम्' मन्त्रका ज
स्वतः, बिना उच्चारण किये ही हो रहा है अर्थात् पूरकमें 'सो' औ
रेचकमें 'अहम्', दोनों मिलकर 'सोऽहम्' का जप बिना जप कि

ही हो रहा है। यही अजपाजपयोग है। इस जपमें वृत्ति अन्तरात्मापर रखनी चाहिये अर्थात् वही 'सो' (वह—ब्रह्म) है और वही 'अहम्' (साधकका जीवात्मा) है; दोनों मिलकर 'सोऽहम्' हुआ है। इसमें पूरक और विशेषकर रेचक धीरे-धीरे करना चाहिये।

यह अजपा योग उत्तम है और इसमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि यह जीवात्मा और परमात्माके चैतन्यस्वरूपकी एकता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे किया जाय। श्रीगुरु नानकके अनुयायी कतिपय साधकोंमें यह अभ्यास प्रचलित है।

राजविद्या और राजगुह्ययोग

गीताके नवें अध्यायमें जिस राजविद्या-राजगुह्ययोगका उल्लेख है, उसकी प्राप्तिके लिये जिस ज्ञान, भाव और साधनाकी आवश्यकता है, उसका यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

(१) जड प्रकृति और उसके कार्य शरीर आदि नाम-रूपात्मक दृश्यको अनात्मा और चैतन्य आत्माका केवल आवरण-मात्र जानकर प्राकृतिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, अपने चैतन्य आत्मासहित अखिल विश्वब्रह्माण्डको कारणकी दृष्टिसे चैतन्यघन श्रीपरमात्माका व्यक्त रूप जानकर उसी ज्ञानमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण दृश्यके प्रति रागद्वेषसे रहित होकर सबके अन्दर चैतन्यरूपमें श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवको वर्तमान देखना चाहिये और इसलिये सबको प्रेम

और आदरकी दृष्टिसे देखना और मनसे नमस्कार करना चाहिये (भागवत स्क० ११ अ० २ श्लो० ४१)। श्रीभगवान्‌की इन विभूतियोंमें जो विभूति हृदयको आकर्षित करे, उस रूपमें प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की उपासना और पूजा करनी चाहिये (भागवत ११ । २७ । ४८)। सर्वत्र भगवद्भावकी इस दृष्टिके अनुसार आचरण करना चाहिये अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्यापहरण न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह), अपरिग्रह (दूसरेकी वस्तु, देनेपर भी, न ग्रहण करना), शौच, संतोष आदिका अभ्यास करना चाहिये और इनके विरोधी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

(२) ऊपरके ज्ञानके आधारपर शरीरके प्रति अहंता और पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग कर सब प्रकारके कर्मोंको श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवके कर्म समझकर केवल उन्हींके निमित्त निःस्वार्थ—निष्कामभावसे करना चाहिये और उन कर्मोंको श्रीभगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर देना चाहिये। काम करते हुए यह ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हों, अपनेसे कदापि ऐसा कोई कर्म न हो जो श्रीभगवान्‌के गुण, वचन, इच्छा आदिके विरुद्ध हो। अपने सांसारिक व्यावहारिक कर्म भी श्रीभगवान् अर्थात् इष्टदेवके कार्य समझकर उन्हींके निमित्त निष्कामभावसे करने चाहिये। (श्रीभागवत)

(३) ऊपर कहे हुए ज्ञान, भाव और कर्मके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह और शुद्धि, मनका संयम तथा चित्तशुद्धि करके

अहंकार, ममता और स्वार्थको भलीभाँति त्याग देना चाहिये; दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, अपकार आदिको धैर्यपूर्वक सहते हुए जन-जनार्दन अर्थात् सब प्राणियोंको श्रीभगवद्रूप जानकर उनके हितसाधनको ही श्रीभगवान्‌की परम सेवा मानकर उनका सम्पादन निष्कामभावसे करना चाहिये और विशेषकर सदाचार, ज्ञान और भक्तिभावका सब प्रकारसे अपने आचरणद्वारा प्रचार करना चाहिये (भागवत ११।७ । ३८, ४४ तथा ११ । ११ । २३-२४) ।

(४) श्रीभगवान्‌के जिस सगुण-साकारभावके प्रति हृदय-का स्वाभाविक झुकाव हो, उसीके प्रति अनुरक्त होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूपकी (जो सच्चिदानन्दरूप है, प्राकृतिक कदापि नहीं), कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदिके द्वारा निःस्वार्थ प्रेमके साथ नित्य उपासना करनी चाहिये और उसीमें चित्तको निरन्तर लगाना चाहिये । परमात्माके उसी दिव्य नामका निरन्तर मानसिक जप करते हुए ही शरीरसे अन्य काम भी करते रहना चाहिये ।

(५) *अन्तिम साधना*—अपने शरीररूप पिण्ड (छोटे ब्रह्माण्ड) के आध्यात्मिक हृदयमें जो अङ्गुष्ठमात्रका चेतनात्मा (पिण्डका केन्द्रस्वरूप) वर्तमान है उसमें, हृदयशुद्धि आदिके द्वारा स्थिति लाभकर अभ्यासद्वारा उसमें मनको लय करना चाहिये ।

(६) तत्पश्चात् उस हृदयकेन्द्रमें अपने शक्तिसहित इष्ट-देवको स्थापित कर, निरन्तर उनके ध्यानके द्वारा अन्तरात्माको

उनमें लय करना चाहिये। इन दोनों अभ्यासोंमें ध्यान मुख्य है। इष्टके साकार ध्यानकी सुगमताके लिये इष्टदेवकी मूर्ति या चित्रको ध्यान करते समय अपने सामने रखना आवश्यक है। उस मूर्ति या चित्रके समान अपने हृदयमें एक मूर्ति नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भागतक बनानी चाहिये; और उस हृदयस्थ मूर्तिमें मनको सन्निवेशित करना चाहिये; अन्य किसी भावनाको नहीं आने देना चाहिये। यदि कोई दूसरी भावना आवे तो उसे दूर-कर फिर चित्तको मूर्तिमें ही संलग्न करना चाहिये।

(७) श्रीशिवकी कृपा होनेपर ध्यानके द्वारा हृदयकमलमें इष्टके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें कथा है कि गुरुके उपदेशके अनुसार हृदयमें ध्यान करनेसे श्रीनारदजीको भगवद्दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त दो और सोपान हैं।

(८) जगद्‌गुरु श्रीशिवकी कृपासे साधकको अपने अदृश्य सद्‌गुरुके दर्शन हृदयमें ही होते हैं और उनके तेजके प्रकाशसे, अन्तरमें उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

(९) श्रीसद्‌गुरु योगकी यथार्थ उच्च दीक्षाद्वारा साधकका दैवी प्रकृतिके प्रकाशके साथ सम्बन्ध करा देते हैं, जिस प्रकाशकी सहायतासे श्रीसद्‌गुरु साधकको अविद्यान्धकारसे पार करके उसके इष्टदेवमें उसे समर्पित और युक्त कर देते हैं। यह सद्‌गुरुकी सहायताके बिना सम्भव नहीं है।

श्रीसद्गुरु

श्रीशिवका सद्गुरु होना तो लोगोंको विदित है; किन्तु श्रीसद्गुरुका ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकारसे लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदिमें जो गुरुका वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधकको ज्ञानचक्षु देकर अज्ञानान्धकारको दूरकर उसे अखण्डमण्डलाकार सर्वव्याप्त ब्रह्मका साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्मके रूप हैं, इस वर्णनसे त्रिकालदर्शी महर्षियों और सिद्धोंसे तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुगमें अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोकमें ही वर्तमान हैं। कलियुगके आरम्भ होनेपर राजा श्रीपरीक्षितको शाप लगनेके बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद जनमेजयके यज्ञ-में भी वे सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर-त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंगपुराणके सातवें अध्यायमें उन सद्गुरुओंका वर्णन योगाचार्यके रूपमें आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि उन लोगोंका वासस्थान हिमालय और सुमेरु पर्वतमें सिद्धाश्रम नामसे पुकारा जाता है। वे सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके शिष्य-पुत्रके समान हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके १२ वें स्कन्धके दूसरे अध्यायके ३७ वें श्लोकमें लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका आश्रम कलापग्राममें है, कलियुगमें वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे। श्रीश्रीधरस्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि, '**कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः**।' उसी पुराणके स्कं०

१० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ तक और महाभारतके मौसलपर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कलापग्राममें सिद्धोंके रहनेका वर्णन मिलता है। श्रीसनकादि चारों कुमारोंका आश्रम उत्तरमें है और श्रीअगस्त्य दक्षिणमें हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्त्रके एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन मन्त्रके पूर्व नामोच्चारणद्वारा कवच अथवा स्तोत्रमें किया जाता है। इसका भाव यह है कि उन ऋषि-की कृपाके बिना मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उस मन्त्रके यथार्थ आविष्कारक वही हैं और उन्होंने उसे लोगोंके हितके निमित्त प्रकाशित किया। सिद्धान्त यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योग आदिका लोगोंमें प्रचार करना ही एकमात्र कार्य है। इसी कारण इस ऋषिऋणसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन ऋषियज्ञ करना नित्यकर्मका एक प्रधान अंग माना गया है।

ये लोग अदृश्यभावसे सब जिज्ञासुओंकी सहायता उनकी योग्यताके अनुसार करते हैं और ठीक समय आ जानेपर हृदयमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर योगदीक्षा देते हैं। इनमें ऊपर कहे हुए दो ऋषि श्रीदेवापि और श्रीमरु विशेष कार्य कर रहे हैं। क्योंकि आगामी युगमें उनमेंसे एक व्यास और एक मनु होंगे। अतएव वे लोग योग्य साधकोंको चुनकर अपने भावी कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं। श्रीभगवान्ने प्रभाससे प्रस्थान करनेके पूर्व श्रीउद्धवको इन्हीं दोनों ऋषियोंसे अथवा श्रीमरुसे उपदेश लेनेको कहा था। जो लोग इनको सद्गुरु मानकर इनके साथ प्रेम करेंगे और इनके पादपद्मोंका ध्यान करेंगे, उनका इनकी प्राप्तिसे विशेष उपकार होगा।

राजयोगकी विशेषता

इस राजविद्या-राजगुह्ययोगके मार्गकी एक विशेषता यह है कि इसके सिद्धान्त और साधन सर्वमान्य हैं और इसकी उपयोगितामें किसी आस्तिकको किसी प्रकारका कदापि संदेह नहीं हो सकता। गीतामें कहा है कि इस धर्मका थोड़ा भी आचरण बहुत बड़े भयसे बचा देता है (२।४०)।

आध्यात्मिक अनुभवकी गोपनीयता

आध्यात्मिक अनुभवको प्रकाशित करनेसे अनुभवका आना बन्द हो जाता है; क्योंकि प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य दूसरोंसे प्रशंसा और मान-बड़ाई प्राप्त करना ही होता है जो अध्यात्ममार्गका बाधक है। साधकको प्रशंसा, मान, बड़ाई आदिको विघ्न समझना चाहिये और निन्दाको ही अच्छा मानना चाहिये। प्रशंसा, मान आदिसे अहंकारकी वृद्धि होती है। अतएव उच्च साधक यदि आवश्यक समझकर किसीसे अपना अनुभव कहते हैं तो वे साथ ही दूसरोंसे कहनेका निषेध भी कर देते हैं। यहाँ हम थोड़े-से अनुभवोंको, जिनका पता हमें मिला है, अनुभवीका नाम-स्थान बिना दिये ही, इस निमित्त दे रहे हैं कि साधक यह समझ जायँ कि वर्तमान समयमें भी श्रीसद्गुरुलोग सहायता कर रहे हैं और जो लोग उनपर विश्वास करके उचित पथका अनुसरण करेंगे उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार उनसे अवश्य सहायता मिलेगी। साधकोंको उचित है कि वर्तमान समयमें नकली और केवल धन हरण

करनेवाले अथवा मान-बड़ाई चाहनेवाले गुरुओंके फेरमें न पड़कर सीधे सद्गुरुपर विश्वास करके उनके भरोसे निर्दिष्ट पथका, जिसका वर्णन गीतामें है, अनुसरण करें ।

एक परमावश्यक और परम स्मरणीय बात यह है कि श्रीसद्गुरु वे ही हैं जिन्होंने निर्वाण पानेकी योग्यता प्राप्त करके भी संसारके हितसाधनके निमित्त निर्वाणका त्याग कर दिया। इस परम त्यागके बादसे वे संसारका सब तरहसे कल्याण करनेके व्रतमें लगे हुए हैं और इस व्रतको पूरा करनेके लिये वे सर्वदा सब व्यक्तियोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं तथा यथासमय सबकी सहायता करते हैं। इस कारण उनकी कृपादृष्टि विशेषरूपसे उन्हीं व्यक्तियोंपर होगी जो स्वयं भी उनके इस संसारहितकार्यके करनेमें निष्कामभावसे प्रवृत्त हों अर्थात् उनकी साधनाका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थसाधन न हो, बल्कि जन-जनार्दनकी सेवा करना हो और उसीके निमित्त योग्यता प्राप्त करना साधनाका मुख्य लक्ष्य हो, और जो साथ-साथ यथाशक्ति और यथावसर ऐसी सेवा करते भी जायँ। जनताकी पारमार्थिक उन्नतिके निमित्त यत्न करना ही इस निष्काम सेवाका मुख्य लक्ष्य होना चहिये; क्योंकि पारमार्थिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है।



गीतोक्त मुक्ति और भक्ति

कल्याण वर्ष ४ संख्या ६ में एक 'गीताका सांख्ययोग' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, यह क्षुद्र लेख उसीकी पुष्टिमें लिखा जाता है, यद्यपि यह यथार्थमें अनधिकार चर्चा है। श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमुखद्वारा अन्तिम उपदेश होनेके कारण इसमें वेदान्तादि सब सिद्धान्तोंकी पूर्ति है। इसीलिये प्रथम छः अध्यायोंमें उस समयके प्रचलित सिद्धान्तोंकी समीक्षा है और उनकी अपूर्णता दिखलाकर अन्तमें श्रीभगवान्‌ने अपना मत प्रकट करके सबकी पूर्ति की है। महाभारतके शान्ति-पर्व (अध्याय २०१) में जिस सांख्यका वर्णन है वह ईश्वरवादी

सांख्य है, निरीश्वरवादी नहीं। प्रत्येक दर्शन स्वतन्त्र न होकर सत्यका एक-एक अङ्गमात्र है और इन सबके समूहको भी सत्यका अर्द्धाङ्ग ही समझना चाहिये। सत्यका रहस्यभाग तो योग्य साधकको केवल श्रीभगवान्‌की कृपासे, श्रीसद्‌गुरुके उपदेशसे अनुभवद्वारा ही प्राप्त होता है (गीता ४ । ३४)।

'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' 'जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई' के अनुसार यदि ज्ञान ब्रह्मका साक्षात्कार है अथवा मुक्तिलाभ है, तो यह केवल परिणाम है, कोई साधनविशेष नहीं। यह परिणाम तो सभी मार्गोंका लक्ष्य है। लक्ष्य किस साधनप्रणालीसे प्राप्त होगा यही मुख्य बात है, क्योंकि साधनके जाने और किये बिना केवल लक्ष्यके विचारसे ही फल नहीं होता।

अतएव यदि ज्ञानको केवल लक्ष्य न मानकर लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन माना जाय, तो ज्ञान भी कर्म हो गया, क्योंकि साधन-मात्र कर्म ही है। यदि कर्मका अर्थ केवल शारीरिक कर्म है, तब तो अवश्य ही ज्ञानसाधनको कर्म नहीं कह सकते किन्तु कर्मका अर्थ सदैव ही शारीरिक, वाचनिक, मानसिक आदि होता है (गीता १७ । १४–१६) तथा मनुने भी स्पष्ट यही कहा है (अ० १२ श्लोक ५–७)। ज्ञानका साधनचतुष्टय भी कर्म है। साधनचतुष्टयके बादका श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी कर्म है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें (१३ । ७ से ११ तक) जिनको ज्ञानके नामसे पुकारा है, जैसे सद्‌गुण, आचार्योपासना, अव्य-भिचारिणी भक्ति आदि, उनकी प्राप्ति भी पुरुषार्थ-अधीन कर्मसे

होती है। शास्त्रज्ञान और अध्यात्मज्ञानमें भेद है किन्तु शास्त्रज्ञान भी आचार्योपासना, उपदेशप्राप्ति, श्रवण, मनन आदिद्वारा प्राप्त होता है, ये सभी कर्म हैं। निरीश्वर सांख्यके दो मुख्य सिद्धान्त ये हैं। 'कर्मका कारण केवल प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है एवं कर्मसे निवृत्ति हो सकती है। परन्तु श्रीभगवान्‌ने कर्मका केवल एक कारण प्रकृति ही नहीं बतलाकर उसके पाँच कारण (गीता १८ । १४-१५) बतलाये हैं और कर्मका पूर्णतया त्याग नहीं हो सकता (गीता ३ । ५ और १२ । ११) कहकर इन दोनों सिद्धान्तोंका खण्डन किया। सांख्यका आत्मानात्मविचार तो केवल विवेकद्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंसे वैराग्य होनेके लिये है। इसी कारण गीतामें सांख्ययोगके बाद बुद्धियोगका उपदेश दिया गया, क्योंकि भवबन्धनसे, जिसका मुख्य कारण कामभोगेच्छा है, मुक्ति केवल बाह्य कर्मोंके त्याग कर देनेसे नहीं होगी। बुद्धियोगके आश्रयसे सिद्धि और असिद्धिमें समान रहकर कर्म करनेपर (गीता २ । ४८) वह कर्म कदापि बन्धनकारक नहीं होता (गीता २ । ३८, ५०, ५१)। श्रीभगवान्‌का कथन है कि कर्मका बाह्य त्याग यथार्थ त्याग नहीं है (गीता ३ । ६) आसक्तिको त्यागकर कर्म करना ही उत्तम पक्ष है (गीता ३ । ७)। गीताका यह स्पष्ट कथन है कि यज्ञ अर्थात् कर्तव्य कर्मके सिवा अन्य कर्म बन्धनके कारण हैं (गीता ३ । ९) क्योंकि यज्ञ ही सृष्टिका कारण है (गीता ३ । १०); अतएव बिना यज्ञसम्पादनके इस लोकमें भी कोई जीवनयात्राका निर्वाह नहीं कर सकता,

तब परलोककी तो बात ही क्या ? (गीता ४ । ३१) अतएव श्रीभगवान्‌का यह निश्चित मत है कि यज्ञ, दान और तपस्याका कदापि त्याग नहीं करना चाहिये (गीता १८ । ५)। यथार्थ ज्ञान अर्थात् बुद्धियोग श्रीभगवान्‌की कृपासे मिलता है न कि शास्त्रज्ञान या विचार आदिसे (गीता १० । १०)। जिस भजनके द्वारा श्रीभगवान् ही अज्ञानान्धकारका नाश कर देते हैं (गीता १० । ११) ज्ञानी भी तो चार प्रकारके भजन करने-वालोंमेंसे एक हैं (गीता ७ । १६)। अतएव ज्ञानकी मुख्य साधना भगवद्भजन है जो कर्म है। श्रीभगवान्‌के निमित्त कर्म करना उनकी यथार्थ पूजा है और इसीसे सिद्धि मिलती है (गीता १८ । ४६)। यही यथार्थ कर्मयोग है ।

अब मुक्ति और भक्तिका विचार करना चाहिये । मुक्ति और निर्हेतुकी भक्तिमें, जिससे भगवत्प्राप्ति होती है, बहुत बड़ा अन्तर है । मुक्ति तो सुगम और सुसाध्य है किन्तु भक्तिकी प्राप्ति परम दुर्लभ है । श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है कि श्रीभगवान् किङ्कर बनते हैं, मुक्ति देते हैं किन्तु भक्ति नहीं देते अर्थात् यह परम दुर्लभ है (स्कन्ध ५ अ० ६ श्लो० १८)। मुक्ति तो केवल जन्म-मरणसे छुटकारा पानेका नाम है जो विषयके मिथ्याज्ञान होनेपर वासनाक्षयसे सहजमें सम्भव है । वासना ही जन्मका कारण है । जो इस लोकसे लेकर स्वर्गतकको मिथ्या समझ उनके सम्बन्धमें कोई वासना नहीं रखता, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति तो केवल श्रीभगवान्‌के शरणापन्न होनेसे ही हो सकती है (गीता ७ । १४) । कारण यह है कि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य केवल मुक्ति न होकर भगवत्प्राप्ति है जो श्री-भगवान्‌की सृष्टिरचनाके आदिसंकल्पकी पूर्ति किये विना सम्भव नहीं है । श्रीभगवान्‌का आदिसंकल्प ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** (एक हूँ अनेक हो जाऊँ) सृष्टिका कारण है, जिसका तात्पर्य है प्रत्येक जीवात्माको (जो भगवदंश है और जिस प्रत्येकमें श्रीभगवान्‌के सब गुण, ऐश्वर्य और विभूति निहित हैं) चाहिये कि सृष्टिलीलामें श्रीभगवान्‌के सेवककी भाँति प्रवृत्त रहकर भक्ति-द्वारा उन सब गुणोंको प्रकाशित करे । उनको प्रकाशित कर अपने आत्माको श्रीभगवान्‌में उनके विशेष कार्यके लिये अर्पण कर देना पराभक्ति है और केवल इसीसे भगवत्प्राप्ति होती है, अन्यथा कदापि नहीं (गीता ११ । ५४) । जब श्रीभगवान् स्वयं सृष्टिके हितके लिये कार्य कर रहे हैं (गीता ३ । २२, २३, २४) और विशेष कार्यके उपस्थित होनेपर अवतारतक धारण करते हैं (गीता ४ । ७-८) ऐसी अवस्थामें जो श्रीभगवान्‌का अनुकरण न कर विश्राम (मोक्ष) चाहेगा वह कैसे भगवत्कृपाका पात्र हो सकता है ? भगवत्कृपा बिना भगवत्प्राप्ति हो नहीं सकती । भक्त इस सृष्टिको श्रीभगवान्‌की लीला समझता है, अतएव इसके कार्यको श्रीभगवान्‌के कार्यकी भाँति करनेसे उसे माया नहीं बाँध सकती । साधक अनेक जन्मोंके बाद मुक्तिको तुच्छ समझकर जब सर्वत्र श्रीभगवान्‌को ही देखता है, इस सृष्टिको उनका रूप ही जानता और ऐसे बोधसे

श्रीभगवान्में अपने आत्माको अर्पण करता है, तब भगवत्प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं (गीता ७ । १९)।

सांख्यज्ञानसे जीवात्माकी स्थिति, स्थूल और सूक्ष्म शरीर और उनकी वासनाओंको अतिक्रम करके कारणशरीरके अभिमानी (जिसकी संज्ञा 'प्राज्ञ' है) जीवात्मामें होती है जो अवश्य नित्य, शुद्ध, साक्षीके समान है और ऐसी स्थिति मुक्तावस्था अवश्य है। किन्तु यह यात्राका एक पड़ाव है, अन्तिम लक्ष्य तो भगवत्प्राप्ति ही है। इस अवस्थाके ऊर्ध्वमें गति हुए बिना श्रीभगवान्‌की दिव्य ह्लादिनी शक्ति (गीता ९ । १३) का आश्रय कदापि सम्भव नहीं है, वह तो केवल भक्तिद्वारा लब्ध होता है। इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् मुक्तिका त्याग करनेसे साक्षात् भगवत्प्राप्तिका दुर्लभ भक्ति-मार्ग प्रारम्भ होता है। इस मुक्तित्यागको गीतामें कर्मफलत्याग कहा है जिसके करनेसे परम शान्ति मिलती है (गीता १२ । १२)। इस मार्गकी यात्रा श्रीसद्‌गुरु और श्रीभगवान्‌की दिव्य दैवी शक्तिकी सहायतासे सम्पन्न होती है। इनके सम्बन्धसे ही पराभक्ति लाभ कर (गीता १८ । ५४) श्रीभगवान्में आत्मार्पण करने (गीता १८ । ६२, ६६) से भगवत्प्राप्ति होती है।



गीता योगशास्त्र है



योगका यथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियाँ तो योगमें विघ्न हैं), बल्कि जीवात्मा-का श्रीपरमात्माके साथ योग अर्थात् मिलन है; अथवा यों कहें कि जिससे दोनोंका मिलन या एकता हो वह योग है । श्रीमद्भगवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्रीपरमात्माकी प्राप्ति है । गीतामें योगकी प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्यायसे आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगेके अध्यायोंमें भी उसीका विकास होता गया है, वे सब योगमार्गकी क्रमशः विभिन्न मंज़िलें हैं। श्रीपरमात्माके स्वरूप, निवासस्थान और जीवात्मा एवं परमात्माके सम्बन्धका

ज्ञान होना इस मार्गमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्गकी पहली मंज़िल विचार-विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा-अनात्माका ज्ञान है, जिसके कारण गीतामें सबसे पहले प्राचीन सांख्ययोगका उपदेश दिया गया है। यह सांख्ययोग निरीश्वरवाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर जो जड है वह केवल वस्त्रके समान है। यह संसार चेतन अविनाशी तत्त्वसे व्याप्त है (२। १७); और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसीका अंश है और इन्द्रियोंके बाह्य भोगात्मक विषय दुःखमूलक हैं (२। १४); इनके भोगात्मक सम्बन्धसे ही दुःख प्राप्त होता है। अतएव कर्म कर्तव्य-पूर्ति और यज्ञके उद्देश्यसे योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदिके ऋणपरिशोधके निमित्त निष्कामभावसे, अहङ्कार और ममताको छोड़कर करना चाहिये और कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना चाहिये। यही बुद्धियोग है (२। ३९, ४७ और ४८ तथा ३। ८, ९)। सकाम कर्म बन्धनका कारण है; किन्तु कर्तव्य और यज्ञकर्म बन्धनका कारण नहीं। कर्मका त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३। ८, ९)। यही सांख्ययोगके बादका कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग है। इसकी प्राप्तिकी योग्यताके निमित्त इन्द्रिय और प्राणनिग्रह * आवश्यक है

* प्राणायाम विधिपूर्वक बहुत थोड़ा करना चाहिये, अधिक करनेसे हानि होती है। इसी निमित्त श्रीमद्भागवत स्कं० ११, अ० १४, श्लोक ३५ में तीन बार केवल दस-दस प्राणायाम करनेका उपदेश है।

(४ । २६-२७) । तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्त्वशास्त्रके पठन, मनन और निदिध्यासन (४ । २८) की आवश्यकता है। अष्टाङ्गयोगमें ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह), स्वाध्याय और प्राणायामसे भी यही तात्पर्य है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, उसमें भी जिह्वा और जननेन्द्रियका निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियोंके विकार काम, क्रोध और लोभका त्याग भी जरूरी है (३।३७)। इन्द्रियोंका निग्रह सांख्ययोगके अभ्याससे अर्थात् अपनेको शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा हैं, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मामें ही स्थिति प्राप्त करने (३।४३) तथा विषयोंसे ध्यान हटाने (२।६२-६३) से सम्भव है। इसके बाद साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुसे ज्ञानयोगका उपदेश लेना चाहिये (४। ३४)। इस ज्ञानयोगका परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अखिल चराचर समष्टि सृष्टि चेतनमय होनेके कारण उसके चेतन आत्मासे अभिन्न है और फिर सब-के-सब परमात्मामें अभिन्नरूपसे वर्तमान हैं। यह ज्ञान होनेके बाद फिर साधकको मोह न होगा (४।३५)। यह ज्ञानयोग कर्मयोगका साधन करके इन्द्रियनिग्रह करनेसे श्रद्धावान् पुरुषको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४। ३८-३९)। किन्तु यहाँ तकका ज्ञान बुद्धिके द्वारा केवल निश्चयात्मक है; इसे विज्ञानमें परिणत करनेसे अर्थात् साक्षात् अथवा अपरोक्ष बनानेसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिमें मन मुख्य है और मन ही बाधक है। मन उभयात्मक है; यह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समयमें हमारा मन

बहिर्मुखी होकर इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंमें आसक्त हो रहा है और अज्ञानके कारण उन्हींको सुखप्राप्तिका साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थमें परिणाममें दुःखदायी हैं। भोगकी प्राप्तिके लिये हिंसा, असत्य, स्तेय, अविहित काम-चेष्टा आदि की जाती हैं, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख-शान्ति न मिलनेके कारण वह और भी चञ्चल हो उठता है। अतएव मनका अज्ञान, तथा भोगलिप्साके कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलिनता और चञ्चलता दूरकर मनको पवित्र, स्थिर और शान्त बनाना आवश्यक है, जिसके बिना यह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यासयोगसे सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञानके अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है (६। ३५)। इस योगकी सिद्धिका मूल तत्त्व इस नामरूपात्मक संसारके नानात्वको सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्मको देखना और उसीके अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीतामें कर्माभ्यासयोग नामक छठें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने इस योगके मूल मन्त्रको इस प्रकार बतलाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(२९-३१)

इन वाक्योंका भाव यह है कि योगमें स्थित साधक अनन्त

चेतनको सब भूतोंमें व्याप्त और सब भूतोंको उस अनन्त चेतनमें व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्वकी—समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं, जो मुझ परमात्माको सबमें व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतोंमें व्याप्त मुझ एकको ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहारमें रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है! फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टिकी केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरणमें परिणत करना 'योग' है। ऊपरके श्लोकोंके बाद ही यह वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

जो दूसरोंके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है। स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे हमलोग अपने सुखकी वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरोंके सुखकी भी वृद्धि करनेके निमित्त यत्न करना चाहिये और इसी तरह दूसरोंके सुखको भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःखकी निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं, उसी तरह दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःखनिवृत्तिको अपनी ही दुःखनिवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यासयोगमें कर्म-यज्ञ अर्थात् कर्म-योग सृष्टिके हितके लिये अपने

स्वार्थको स्वाहा कर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भाँति उन्हींके निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित-कार्य और शरीर, मन तथा वाणीकी शुद्धिके लिये तपस्या भी यज्ञ-पुरुषके निमित्त ही की जाती है; क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्याका मैं स्वयं भोक्ता हूँ और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूँ, जो सुहृद्का धर्म है (५। २९)। साधारण परोपकार और योगके परहित-सेवामें भेद यह है कि पहलेमें उपकृतको अपनेसे पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योगमें उपकृतको पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्कामभावसे उसका हितसाधन करते हैं; फिर आगे चलकर उसे श्रीपरमात्माका ही रूप मानकर श्रीपरमात्माकी सेवाकी भाँति, फलाकाङ्क्षासे रहित होकर, निरहंकार-भावसे उसका हितसाधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करनेकी शक्ति सब कुछ श्रीपरमात्माकी है, साधक तो केवल निमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्तपर योगके प्रथम अंग यमके अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह स्थित हैं। जब सब कुछ परमात्माका रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्तेय आदि दुर्व्यवहार किसीके साथ करना मानो श्रीपरमात्माके ही साथ करना है और इस कारण हिंसाका त्यागकर दूसरोंका हितसाधन करना, असत्यका त्यागकर सबके साथ सत्यका व्यवहार करना, स्तेयका त्यागकर अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरोंसे दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरोंको दान देना योगकी मुख्य साधना है। इसी प्रकार सर्वत्र परमात्मभाव रखकर व्यवहार

करनेका अभ्यास करनेसे श्रीपरमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११।२९।१९)

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भावका ज्ञान परिपक्व होनेसे और बाह्य नानात्वपर केवल अध्यास माननेसे विषय-वैराग्य स्वाभाविक ही आ जायगा और यह वैराग्य ज्ञानमूलक होनेके कारण दृढ़ होगा। ऐसे वैराग्यवाले पुरुषको किसी सांसारिक पदार्थकी तृष्णा नहीं होगी। वास्तवमें तृष्णा और राग-द्वेषके कारण ही मन चञ्चल रहता है, और वैराग्यद्वारा इनकी निवृत्ति हो जानेपर मनका आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है। इसी निमित्त गीताके उसी छठे अध्यायमें आदेश है कि मनको आत्मामें स्थित करके भावना-रहित कर दे और यदि मन आत्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँसे उसे लौटाकर आत्मामें ही लगावे। सर्वत्र एकत्वभाव बनाये रखनेसे मनके विक्षेपको दूर करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जो भावना मनमें आवे, बस, उसीको आत्मा मान ले। इस तरह निरन्तर अभ्यास करनेसे मन अवश्य शान्त हो जायगा। यही अभ्यासयोग है; इसीसे मनकी चञ्चलता दूर होती है जो पातञ्जलयोगसूत्रका मुख्य ध्येय है। वहाँ भी अभ्यास और वैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं। ऊपर कथित गीताका वचन इस प्रकार है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२५-२६)

उक्त अध्यायके १४ वें श्लोकमें योगकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वास्तवमें योगके लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य योगके प्रथम अंग यमके अन्तर्गत है। आत्मामें मनके स्थित हो जानेपर आत्माके आनन्दकी उपलब्धि होती है और यह महान् सुख इन्द्रियातीत है, केवल बुद्धिग्राह्य है (६।२१)।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्यका लक्ष्य है, हो जानेसे ही योगके लक्ष्यकी पूर्ति नहीं होती। इस आत्मानन्दको भी अतिक्रम करना चाहिये। इसलिये श्रीभगवान्का कथन है कि श्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे साथ संलग्न हो (६।४७)। अतएव अब योगके मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये। मनको अपने आत्मामें लय करके अब आत्माको श्रीभगवान्में अर्पित कर देना चाहिये। इसी आत्मार्पणका दूसरा नाम शरणापन्न होना है। इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्रीभगवान्के कौन-से निवास और भावमें आत्मार्पण किया जा सकता है। श्रीभगवान्के विराट् व्यापक विश्वरूपके भावमें अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विच्छिन्न शरीरमें रहनेवाले जीवात्माके लिये कदापि सम्भव

नहीं है। तब यह सम्भव कैसे होगा ? इस जटिल समस्याको स्वयं श्रीभगवान्‌ने गीतामें ही हल कर दिया है। उन्होंने कहा है कि मैं सब भूतोंके हृदयोंमें हूँ (१३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१)। इस हृदयस्थ ईश्वरमें ही आत्मार्पण-योग करना होगा—यह श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना निवास सब भूतोंके हृदयमें बतलाकर उसके बादके श्लोकमें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीरसे उस हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसके बाद उसकी कृपासे परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी। यही अन्तिम साधना भक्तियोग है। इस योगमें पहले यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि परमात्माने जीवात्माका त्राण करनेके लिये कृपा करके अपनेको हृदयमें कैदीकी भाँति बना रक्खा है, जिसमें उनको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था। यह श्रीभगवान्‌की असीम कृपा जीवोंके लिये है। इस कारण भी जीवात्माका श्रीभगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये। इसी निमित्त श्रीभगवान्‌का जीवात्माके साथ पिता-पुत्र, सखा और प्रेम-पात्र, प्रियतम और प्रेमीका सम्बन्ध है (११ । ४४)। यह प्रेम-सम्बन्ध भक्तियोगमें मुख्य है। इस योगकी प्राप्ति किस आश्रय-का अवलम्बन करनेसे होगी, इसका वर्णन ७ वें अध्यायमें है।

वहाँपर दो प्रकृतियोंका, पञ्चभूत और अन्तःकरणचतुष्टयका अपरा जड प्रकृतिके रूपमें और इसके परे जो चैतन्य जीव-शक्ति है, उसका परा-प्रकृतिके रूपमें वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैवी प्रकृति भी है।

श्रीभगवान्‌की प्राप्ति राजविद्या अर्थात् प्राचीन राजयोगके द्वारा होती है, इसका उल्लेख गीताके ९ वें अध्यायमें है। श्रीभगवान्‌का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अभ्यासमें सुखदायी (हठयोगके समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (९।२)। उक्त अध्यायके १३ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समष्टि जीव-शक्ति) का आश्रयकर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्तिका उपाय गीताके १२ वें अध्यायमें उन्होंने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयमें सगुण साकार भावकी उपासना की जाय, न कि अव्यक्तकी, जो क्लेशकर है। इस भक्तियोगमें श्रीभगवान्‌की दैवी प्रकृतिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है, जो अपने दिव्यतेज और प्रकाशसे साधकको घोर अविद्यान्धकारसे पारकर श्रीभगवान्‌से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पानेके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंको, जिनका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायमें १ से ३ श्लोकतक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्तिका, जिसका वर्णन उसी अध्यायमें ४, ७ और ८ श्लोकोंमें है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोगका लक्षण १२ वें अध्यायमें १३ से २० श्लोकतकमें बतलाया गया है,

उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोगका मुख्य साधन निम्नश्लोकोंमें कहा गया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

इन श्लोकोंका भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, सांसारिक और पारमार्थिक दोनों, श्रीभगवान्‌के कर्म समझकर उनके निमित्त अहंकार, ममता और फलकामनाका त्यागकर, करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मनमें श्रीभगवान् और उनके सम्बन्धके सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हींमें मनको सन्निवेशितकर उपासना-ध्यान करता है, ऐसे चित्तसे पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्तका श्रीभगवान् शीघ्र मायासे उद्धार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही भाव ८ वें अध्यायके १४ वें श्लोकका भी है, जो इस प्रकार है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस भक्तियोगमें सब प्रकारके कर्मोंका अर्पण, उपासना अर्थात् शरीर, वचनसे कर्म करते हुए तैलधाराके समान मनसे सतत निरन्तर ईश्वरस्मरण, चिन्तन और ध्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदयमें अपने इष्टकी मनोहर दिव्य साकार मूर्तिपर चित्तकी धारणा

करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्थामें भीतर ठीक वैसे ही रूपकी भावना करनेके लिये कोई विग्रह अथवा चित्र आवश्यक है। धारणाके परिपक्व हो जानेपर यथार्थ ध्यान प्रारम्भ होगा। वास्तवमें यह ध्यान हृदयका कार्य है और जब हृदय प्रेमसे द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌का वचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्रीभगवान्‌हीको सर्वस्व समझना और उन्हींको सर्वार्पण करना) से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत हो जाता है। गुणातीतका लक्षण उसी अध्यायके श्लोक २२ से २६ तकमें है। इस भक्तियोगकी अन्तिम साधनाका क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(५१-५५)

यह कथन गीताके योगका सार है। इस कथनमें सद्‌गुणोंमें इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विषय-वैराग्य और अहंकार, ममता, काम,

क्रोध, परिग्रह आदिका त्याग मुख्य है। इन सद्गुणोंकी पूर्ण प्राप्तिसे यहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्तिके संयोगसे ही होती है (**परं दृष्ट्वा निवर्तते**); तथा साधनाके रूपमें प्रेमोपहारके समान सब कर्मोंको श्रीभगवान्‌के निमित्त करना, प्रेमसे श्रीभगवान्‌का सतत स्मरण और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोगका अभिन्न स्वरूप है। इसलिये ध्यानके साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये। योगसूत्रमें लिखा है—**तज्जपस्तदर्थभावनम्**।

यह ध्यानयोग ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनोंका योग (एकता) करता है, जो योगका अन्तिम लक्ष्य है। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी ध्यानसे समाधिकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। गीताके इस परम ध्यानके बाद कर्मफलका त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्मका फल जो मोक्ष है उसका त्याग (संन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेनेसे भगवत्सेवा छूट जायगी। वह तो प्रेमके कारण निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्रीभगवान्‌की सेवामें रत रहना चाहता है। इसीसे उसको परम शान्ति मिलती है (१२। १२) जो मोक्षसे भी ऊपरकी स्थिति है।



अन्तिम भगवद्गीता

महाभारतमें कथा है कि श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको दुबारा उपदेश दिया जो 'उत्तरगीता' के नामसे प्रसिद्ध है। परन्तु यह उत्तरगीता ही अन्तिम गीता नहीं है। अन्तिम भगवद्गीता वही हो सकती है, जिसमें श्रीभगवान्‌का अन्तिम उपदेश हो, जिसके बाद कोई उपदेश न दिया गया हो। इस तरह सबसे अन्तमें श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको उपदेश दिया और उसके बाद ही शीघ्र प्रभासक्षेत्रमें महाप्रस्थान किया, जिसके कारण यह अन्तिम उपदेश कहा जा सकता है। यह अन्तिम उपदेश श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें है और उसमें प्रसंगवश श्रीअर्जुनके उपदेशका भी उल्लेख है। श्रीउद्धव श्रीभगवान्‌के श्रीअर्जुनके समान ही भक्त थे; क्योंकि श्रीभगवान्‌ने ऊपरके उपदेश-

में ही भक्तके लक्षण अर्पितात्मा, सब प्रकारसे निरपेक्ष, अकिञ्चन (ममतारहित), दान्त, शान्त, समचित्त, श्रीभगवान्‌की प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट इत्यादि (१४ । १२, १३) बतलाकर कहा कि आपके जैसे भक्तोंके समान मुझको ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और बलरामजी भी प्रिय नहीं हैं (१४ । १५)। प्रथम श्रीमद्भगवद्गीता और इस अन्तिम श्रीमद्भगवद्गीतामें बहुत कुछ एकता है और कई स्थलोंमें उसके सूक्ष्म सिद्धान्तोंपर इसमें पूरा प्रकाश डालकर उनकी पूर्ति इसमें की गयी है, जिसके कारण इसको श्रीगीताकी श्रीभगवान्‌द्वारा व्याख्या कहनेमें कोई अत्युक्ति न होगी । मालूम होता है कि श्रीभगवान्‌ने आदि गीताके रहस्य और सिद्धान्त (जो कर्मयोगी अर्जुनको कहा गया) का, विशेष विकास करनेके निमित्त यह अन्तिम गीता त्याग और प्रेम-पथके पथिक श्रीउद्धवसे कही । प्रत्येक गीताप्रेमी सज्जनको इस अन्तिम गीताको अवश्य पढ़ना चाहिये; मालूम होता है कि श्रीभगवान्‌की प्रेरणासे ही गीताप्रेसने इस एकादश स्कन्धको सुन्दर हिन्दी टीकाके साथ पृथक् पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया है, जिसकी कीमत केवल ।।।) है और सजिल्द १) ।

गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहीं-कहीं कहा कि मेरा मत ऐसा है, जिससे सिद्ध होता है कि उस समयके प्रचलित सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है और उनमें जो-जो अपूर्णता थी, उसकी पूर्ति की गयी है और विरोध मिटाया गया है । श्रीभगवान्‌ने अनेक प्रकारके योगोंके उपदेश श्रीअर्जुनको दिये, जिनमें मनोनिग्रहयोग-

को उन्होंने कठिन बतलाया और उसे कठिन मानकर मनोनिग्रह-का उपाय बतलाया और श्रीअर्जुनने उसे स्वीकार भी किया। चौथे अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने कहा कि तत्त्वदर्शी ज्ञानीसे ज्ञानको प्राप्त करो (४ । ३४)। किन्तु योगसे पृथक् जो श्रीभगवान्‌का परम मंगल भागवतधर्म है वह उस समय स्पष्ट रूपमें पृथक् करके प्रकाशित नहीं किया गया, यद्यपि प्रसंगवश उसका गीतामें पर्याप्त वर्णन है। कारण यह था कि उस समय न तो उपयुक्त अवसर था और न श्रीअर्जुनने, जो अपनेको योगका अधिकारी समझते थे, किसी सुलभ मार्गको बतलानेके लिये आग्रह किया। श्रीउद्धवको भी श्रीभगवान्‌ने अनेक उपदेश दिये जो योगसम्बन्धी ही थे, किन्तु अपना भागवतधर्म नहीं बतलाया। यद्यपि श्रीउद्धवजी योगके परम अधिकारी थे; फिर भी संसारके साधारण लोगोंके हितके निमित्त उपदेशके अन्तमें उन्होंने श्रीभगवान्‌से प्रार्थना की कि योगचर्या जो बतलायी गयी है वह अजितेन्द्रियोंके लिये दुःसाध्य है; अतएव आप ऐसा उपदेश कीजिये जिसमें अनायास सिद्धि प्राप्त हो। यथा—

सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान्सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत॥

(२९ । १)

आगे आनेवाले कलियुगके हम कमज़ोर लोगोंको भगवत्प्राप्ति-में सुगमता हो, इसलिये हमारे प्रति अनुग्रह करके श्रीउद्धवजीने यह प्रश्न किया।

इस प्रश्नके किये जानेपर श्रीभगवान्‌ने जगत्‌के परम कल्याण-

के निमित्त अपने भागवतधर्मका उपदेश दिया जो श्रीभगवान्‌के उस अन्तिम उपदेशमें भी सबसे अन्तिम है और जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत पुराणके स्कन्ध ११ के अध्याय २९ में है। उद्धवके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान्।
यान्छ्रद्धया चरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥

(२९।८)

हे तात ! मैं तुम्हें अपना अति मंगलमय धर्म सुनाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।

यह कहकर फिर श्रीभगवान्‌ने सार रूपसे मुख्य पाँच उपदेश सुनाये, जिनमें अन्तिम उपदेश मुख्य सारातिसार है। पाँचों उपदेश इस प्रकार हैं—

(१) मन, चित्त और कर्मका अर्पण

मुझको स्मरण करते हुए सब कर्मोंको मेरे निमित्त करना चाहिये। इस प्रकार मन और चित्त (बुद्धि) मुझमें अर्पण करनेसे जीवात्माकी और मनकी मेरे धर्म (स्वभाव-गुण) के प्रति अनुरक्ति (प्रीति) उत्पन्न होगी—

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥

(२९।९)

२ सत्संग, ३ सदाचारपालन

(२) जहाँ मेरे भक्त साधु रहते हों उसी पुण्य स्थानमें वास करना चाहिये अर्थात् सत्संग करना चाहिये; और (३) देवता, असुर और मनुष्योंमें जो मेरे (श्रीभगवान्‌के) भक्त हों, उनके आचरणके समान आचरण करना चाहिये अर्थात् सत्संग प्राप्त करके सदाचारका पालन करना चाहिये । यथा—

देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥

(२९ । १०)

४ पर्वोत्सव

श्रीभगवान्‌के जन्मादि पर्वके दिन अकेले अथवा समूहके साथ मिलकर उत्सव अथवा यात्रा और नृत्य, गान आदिके द्वारा श्रीभगवान्‌के योग्य प्रकारसे उत्सव मनाना चाहिये—

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥

(२९ । ११)

५ सार उपदेश—सर्वत्र भगवद्दर्शन

निर्मल चित्तसे मुझ (श्रीभगवान्) को सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने आपमें बाहर-भीतर व्याप्त देखना चाहिये; क्योंकि मैं आकाशके समान आवरणरहित सर्वत्र व्याप्त हूँ । यथा—

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥

(२९ । १२)

चूँकि यह पाँचवाँ उपदेश अर्थात् सर्वत्र सबमें भगवान्को देखना और उनका चिन्तन करना परम मुख्य उपदेश है, इसलिये श्रीभगवान्ने इसकी विशेष व्याख्या की और इसपर विशेष ज़ोर भी दिया।

यह सर्वत्र भगवद्दृष्टि केवल सिद्धान्तके रूपमें मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके अनुसार आचरण किये बिना यह न केवल व्यर्थ है, वरं प्रवञ्चना-सी हो जाती है। इस कारण श्रीभगवान्ने कहा कि सब प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर उनका मान और सत्कार करना चाहिये अर्थात् उनको प्रसन्न रखनेका यत्न करना चाहिये; और यह दृष्टि केवल अभ्यन्तरस्थ परमात्माके ही निमित्त न होकर बाह्य रूपके प्रति भी अन्तरात्माके कारण समदृष्टि होनी चाहिये अर्थात् किसीका अभ्यन्तरकी दृष्टिसे सम्मान करना और बाह्य शरीरके कारण उसकी जाति अथवा व्यवसायको निकृष्ट समझकर उसको नीच मानना, उसका अपमान करना, और उससे घृणा करना अनुचित है तथा सर्वत्र भगवद्भाव रखनेके विरुद्ध है। व्यवहारमें, खान-पान आदिमें समाजके नियमके अनुसार भेद-भाव मान सकते हैं; परन्तु इसका भाव यह नहीं होना चाहिये कि जिसके साथ हमारा खान-पानका या अन्य सम्बन्ध नहीं है, वह नीच अथवा निकृष्ट है। ऐसे लोगोंके अन्दर भी श्रीभगवान् हैं; इसलिये उनका बाह्य शरीर भी अपने और दूसरोंके शरीरके समान ही है और आदर, सम्मान तथा यथाशक्ति सेवा करनेके योग्य है, कदापि घृणाके योग्य नहीं। खान-पान आदि बाह्य व्यवहारके

कार्यमें समाज अथवा शास्त्रकी आज्ञाका भगवदाज्ञा समझकर पालन करना सर्वत्र भगवद्दृष्टिके विरुद्ध नहीं है, यदि व्यवहारमें किसीको नीच न समझा जाय और सर्वत्र भगवद्दृष्टिके कारण उसमें भी भगवद्दृष्टि रहे। यथा—

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः॥

(२९।१३-१४)

हे तेजस्वी उद्धव! इस प्रकार जो पुरुष समस्त प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और निर्दय सबमें समदृष्टि है वही पण्डित है।

अहंकारके कारण ही विषमभावापन्न होकर लोग दूसरोंको अपनेसे भिन्न समझकर किसीसे ईर्ष्या (डाह), किसीकी निन्दा, और किसीका तिरस्कार करते हैं और इसी कारण जन्म-मरणकी संसृतिमें पड़कर दुःख पाते हैं। परन्तु सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखनेसे ये सब दोष सहजमें ही दूर हो जाते हैं; क्योंकि जब सबमें श्रीभगवान् हैं और इस दृष्टिसे सब एक हैं तथा सब एक आत्मा ही हैं तब दूसरेकी निन्दा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि करना स्वयं श्रीभगवान्का अथवा स्वयं अपना ही करना है। इस ज्ञानसे अहंकार नष्ट हो जाता है और सब दोष दूर हो जाते हैं। यथा—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥
(२९।१५)

इस सर्वत्र भगवद्दृष्टिको कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये, केवल सिद्धान्तके रूपमें नहीं रखना चाहिये; क्योंकि वह सिद्धान्त व्यर्थ है जिसके अनुसार व्यवहार नहीं किया जाता। बहुत-से लोग लोकलाजके कारण समदृष्टि रखना आदि उत्तम कर्म करनेमें हिचकते हैं, परन्तु लोकलज्जा होनेका कारण अहंकार और पृथक्-भाव है। जब सर्वत्र भगवद्दृष्टि होनेसे नानात्वका भाव मिट गया तब लोकलज्जाके लिये स्थान ही कहाँ रहा? इसी कारण श्री-भगवान्ने उपदेश दिया कि अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंकी बातपर ध्यान न दे, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर (श्रीभगवत्स्वरूप मानकर) साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। यथा—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
(२९।१६)

श्रीभगवान्ने कहा कि जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना न हो तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके समस्त व्यापारोंके द्वारा मेरी उपासना करते रहना चाहिये। सर्वत्र भगवद्दृष्टि साधन-साध्य दोनों है। सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखकर और उसके अनुसार व्यवहार करते हुए श्रीभगवान्की उपासना, उनकी

जो विभूति अभिमत हो अर्थात् मन स्वाभाविक ढंगसे जिसकी ओर आकृष्ट होता हो, उसमें, करनी चाहिये, उपासनाका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। ऐसी दृष्टि और उपासनाका परिणाम यह होगा कि अन्तर्दृष्टि खुल जायगी और फिर सर्वत्र श्रीभगवान् साक्षात् दिखायी देंगे अर्थात् बाह्य नाम-रूपके बदले उनके भीतर जो परम चेतन श्रीभगवान् हैं, वह दिखायी पड़ेंगे। यथा—

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(२९। १७, १८)

श्रीभगवान् इस त्रिगुणमय विश्वमें नाना रूप और प्रकारसे सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों काम करते हैं। अतएव संहारके पदार्थ जो व्याघ्र, सर्प, विष, कुपथ्य, कुत्सित आचरण आदि हैं, उनमें भी भीतरमें श्रीभगवान्को वर्तमान जानना चाहिये; परन्तु रहना उनसे पृथक् ही चाहिये। क्योंकि श्रीभगवान्के कार्यका सम्पादन करनेके निमित्त, जबतक उनकी इच्छा हो तबतक जीना अर्थात् शरीरकी रक्षाका कार्य करना साधकका धर्म और कर्तव्य है; किसी प्रकार स्वतः शरीरका संहार करना-कराना अधर्म है।

श्रीभगवान्का अन्तिम सार उपदेश यह है कि मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियों और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मेरी ही भावना करनी चाहिये; मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ। (२९।१९)

यह अन्तिम भगवद्वाक्य श्रीभगवान्के अपने भागवतधर्मका महावाक्य है। यही परमा भक्ति है। एकादश स्कन्धके अध्याय २ के श्लोक ४५ में भी यही कहा गया है कि—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

'जो समस्त प्राणियोंमें अपना ही भगवद्भाव देखता है, अर्थात् यह जानता है कि मैं ही श्रीभगवान्रूपसे सब पदार्थोंमें व्याप्त हूँ, और जो समस्त प्राणियोंको अपने भीतरके भगवत्स्वरूप अथवा भावमें अध्यस्त देखता है, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है।'

श्रीमद्भागवतके ७ वें स्कन्धके ७ वें अध्यायमें कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्॥ ५५॥

स्थावर-जंगमरूप सब प्राणियोंमें श्रीभगवान् वर्तमान हैं, ऐसा देखना ही इस लोकमें पुरुषका उत्तम स्वार्थ (हित) है और यही श्रीभगवान्की ऐकान्तिक भक्ति है।

इस सर्वत्र भगवद्दृष्टिमें ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग निहित हैं, जैसा कि निम्नलिखित गीताके प्रमाणसे विदित होता है। गीताका कथन है कि अपने सुख-दुःखके समान दूसरोंके सुख-दुःखको जानकर दूसरोंके सुखकी वृद्धि और दुःखकी निवृत्ति यथासामर्थ्य करना उत्तम भगवत्सेवारूप कर्मयोग है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

श्रीभगवान्‌से सबकी उत्पत्ति हुई है और इस निमित्त कारण-कार्यभावसे सबमें एक श्रीभगवान् ही वर्तमान हैं और इस कारण सब एक हैं। इस दृष्टिसे भावके साथ अर्थात् प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की भजन, स्मरण आदिके द्वारा सेवा करना और उनकी जिस विभूतिमें चित्त स्वाभाविकरूपसे आकृष्ट होता हो, उसीका ध्यान-चिन्तन करना भक्तियोग है। यथा—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(१०। ८)

'सब श्रीभगवान् ही हैं', यही परम ज्ञानयोग है। यथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

इसमें एक परम रहस्यकी बात यह है कि सम्बन्ध-स्थापन अथवा योगयुक्त होनेके लिये श्रीभगवान्‌को सबके हृदयमें स्थित और सब शक्तियोंका मूलभूत परम सञ्चालक जानना चाहिये और ऐसा जानकर अपने हृदयस्थ श्रीभगवान्‌की शरणमें सर्वतोभावसे जाना चाहिये अर्थात् सर्वत्र भगवद्‌दृष्टि रखकर पृथक्-भाव, अहंकार, ममता आदिको त्यागकर श्रीभगवान्‌के हाथमें निमित्तमात्र बनकर सब कर्तव्य-कर्म सेवाके रूपमें करना चाहिये। यथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६१-६२)

श्रीभगवान्‌के उपर्युक्त वचनानुसार सर्वत्र सबमें भीतरी दृष्टिसे भगवद्भाव रखना अर्थात् सबमें श्रीभगवान्‌को वर्तमान जानकर सबका आदर-सत्कार करना, किसीकी हानि न करना सबके लिये साधारण धर्म है। सर्वसाधारणमें इसका विशेष प्रचार होना चाहिये। इस परम ज्ञानको धारण करने और इसका आचरण करनेपर अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना), ब्रह्मचर्य आदि मुख्य सद्गुणोंका पालन करना स्वाभाविक हो जायगा। क्योंकि ये सब कुत्सित आचरण और ब्रह्मचर्यका नाश इत्यादि पृथक्भाव, अहंकार, ममता आदिके कारण होते हैं, जो सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखनेसे अनायास दूर हो जाते हैं और फिर कारणका अभाव हो जानेपर कार्यका भी लोप हो जाता है। अधिकांश लोग आचरणमें ऐसा विश्वास नहीं रखते कि सब प्राणियोंमें श्रीभगवान् हैं और इस कारण, सब भगवद्रूप हैं और इस ज्ञानके अभावके कारण वे हिंसा, असत्य, स्तेय आदिका आचरण करते हैं जो सर्वत्र भगवद्दृष्टि होनेपर अवश्य रुक जाता है। अतएव इस परम ज्ञानका प्रचार करना अत्यन्तावश्यक है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका भी यही मत है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

सब शास्त्र, सब संत-महात्मा, सब सद्ग्रन्थ यही मत प्रकट

करते हैं कि श्रीभगवान् सबमें व्याप्त हैं और यथार्थमें वही एक सर्वत्र हैं, नानात्व भ्रम है। इस दृष्टिको धारण करना चाहिये।

जो कुछ नेत्रसे दिखायी दे, कानसे सुनायी पड़े, मनमें भावनाके रूपमें उदय हो, उन सबके नाम-रूपका खयाल न कर, उनके अन्दर जो श्रीपरमात्मा वर्तमान हैं, उनको देखना चाहिये। इसके लिये सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि साधक अपनेको नाम-रूपात्मक न मानकर चैतन्य आत्मा भगवद्रूप समझे और हृदयमें अवस्थित जाने। उसके बाद सम्पूर्ण दृश्य, श्रुत और भावनामें आये अदृश्यको अपने हृदयस्थ भगवद्रूप चैतन्यात्माकी दृष्टिसे उन सबके भीतर हृदयमें भगवद्रूप चैतन्यमय देखे और फिर सब भगवद्रूप चैतन्यमय बाह्य जगत्को अपने भीतर भगवद्रूप चैतन्यमें अवस्थित देखे।

इस प्रकार निरन्तर दृष्टि रखने और तदनुसार आचरण करनेसे सहज ही मन शान्त, शुद्ध और अहंता-ममता-शून्य हो जाता है, जो अन्य प्रकारसे होना परम कठिन है। इस प्रकार मन, इन्द्रिय आदि जो अनर्थके मूल हैं और भगवत्प्राप्तिमें बाधक हैं, वे शान्त, निगृहीत और लयभावको प्राप्त हो जाते हैं और उनके साथ अहंकार, ममता, अज्ञान आदि मिट जाते हैं। तब जीवात्मा अपने परम कारण आनन्दकन्द श्रीभगवान्के साथ संयुक्त और संनिवेशित हो जाता है, जो मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है और जिससे परा शान्ति तथा शाश्वत पदवीकी प्राप्ति होती है।

महात्याग



ह तो सभी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति रंकसे लेकर राजातक, मूर्खसे महान् विद्वान्-तक तथा विषय-वासनामें फँसे हुए पुरुषोंसे लेकर महान्-से-महान् योगी-संन्यासीतक— सभी आनन्दकी प्राप्ति चाहते हैं तथा मरना कोई नहीं चाहते, सदा जीते रहनेकी ही इच्छा करते हैं। इस प्रकार मनुष्यमात्रका उद्देश्य एक ही दीख पड़ता है। हाँ, उसकी प्राप्तिके लिये साधनमें भेद अवश्य पाया जाता है। अधिकांश मनुष्य इस आनन्दको बाह्य विषयोंमें खोजते हैं और जब उसमें

उन्हें शान्ति नहीं मिलती तब समझते हैं कि और अधिक मिलनेसे शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसी प्रकार आनन्दके लिये वह अधिक-से-अधिक विषयोंकी चाहनामें यत्न करते रहते हैं। यद्यपि उनका यह सुखका अन्वेषण निरन्तर जारी रहता है तथापि विषयोंमें सुखका अस्तित्व न रहनेके कारण किसीको भी अधिकाधिक विषयोंके प्राप्त होनेपर भी शान्ति नहीं मिलती। यथार्थ आनन्द तो आत्माका स्वरूप है परन्तु किसी इच्छित विषयकी प्राप्तिसे जब चित्त किञ्चित् कालके लिये एकाग्र हो जाता है और उस एकाग्रतासे जब वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो अभ्यन्तरस्थ आत्माके आनन्दकी एक किरणका प्रतिबिम्ब उसको प्राप्त होता है। उसे पुरुष यह नहीं समझता कि वह आत्मासे ही प्राप्त होता है; बल्कि उसे विषयोंकी प्राप्तिके द्वारा प्राप्त हुआ समझ वह बारंबार उन्हींकी ओर दौड़ता है। इस प्रकार विषयोंमें आनन्द-की खोज जारी रहती है। इस आनन्दके तारतम्यका वर्णन श्रुतिमें भी आता है—

तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः...।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ८)

अर्थात् सब धन-धान्यसे पूर्ण पृथ्वीका राज्य एक मनुष्यका आनन्द है, इस प्रकारके आनन्दसे सौगुणा आनन्द मनुष्य-गन्धर्व-

का आनन्द है, उससे सौगुणा आनन्द देव-गन्धर्वका आनन्द है, उससे सौगुणा आनन्द पितरोंका है; इसी प्रकार उत्तरोत्तर आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति तथा प्रजापतिके आनन्दसे सौगुणा आनन्द ब्रह्मानन्द है जो पूर्ण आनन्द है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि क्या ब्रह्मानन्द ही आनन्दकी चरम सीमा है अथवा उससे भी बढ़कर कोई आनन्द-की और अवस्था है? ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिका दृष्टान्त देते समय कहा जाता है कि जिस प्रकार नमककी डली समुद्रमें संलग्न होने-से गलकर समुद्रके जलमें लीन हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्मानन्दमें लीन होनेपर जीवात्माकी दशा होती है। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वह ब्रह्ममय हो जाता है।

परन्तु हम देखते हैं कि ब्रह्मर्षिगण इस ब्रह्मानन्दमें लीन होनेकी योग्यता पाकर भी इस आनन्दका त्याग करते हैं और ब्रह्ममें लीन नहीं होते। क्योंकि यदि वे लीन हो जाते तो उनके अस्तित्वका अभाव हो जाता। परन्तु ब्रह्मर्षिगण तीनों कालमें विद्यमान रहते हैं इससे ज्ञात होता है कि वे ब्रह्मानन्दको प्राप्त होकर भी उसमें लीन नहीं होते; बल्कि उसका त्याग कर देते हैं। इससे जान पड़ता है कि ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर वह आनन्द है जो उसके त्यागसे प्राप्त होता है। यही त्याग महात्याग है। यह महात्याग ब्रह्मानन्दसे भी श्रेष्ठ इसलिये कहा जाता है कि ब्रह्मानन्दका आनन्द तो उसी पुरुषको प्राप्त होता है जो उसमें

लीन होता है, परन्तु उसका त्याग करनेवाला त्यागी महापुरुष संसारके कल्याणके कार्यमें लगता है। इस प्रकार वह अकेले आनन्दके उपभोग करनेके बदले अनेकोंका कल्याण-साधन कर उन्हें आनन्दित करता है। ऋषियोंका यही मुख्य कर्म भी है अतः दूसरोंके कष्ट दूर करना और उनके आनन्दकी प्राप्तिमें सहायक होना ब्रह्मानन्दके आनन्दसे भी अधिक आनन्ददायक है। स्वयं आनन्द भोगनेकी अपेक्षा दूसरोंको आनन्दित करनेसे जो आनन्द मिलता है वह श्रेष्ठ है। संसारके लिये ऋषियोंके ब्रह्मानन्दके त्यागका परिणाम यह हुआ कि ऋषियोंकी दिव्य दृष्टिके द्वारा वेदमन्त्र प्रकट हुए। उनका विभाग किया गया। स्मृति, दर्शन, पुराण, तन्त्र आदि परा विद्याकी सामग्री तथा व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, कलाशास्त्र आदि अपरा विद्याकी सामग्रीकी रचना हुई और उनका प्रचार किया गया। इसीलिये प्रत्येक द्विज ऋषियोंका ऋणी है और वह ऋण ब्रह्मयज्ञद्वारा चुकाना नित्यकर्मोंमें आ गया है। यह ज्ञान-प्रचारका काम इसीलिये परमोत्तम समझा जाता है, क्योंकि यह श्रीभगवान्‌की साक्षात् परम प्रिय सेवा है—यह श्रीभगवान्‌का अपना कार्य है जिसमें वह सदा-सर्वदा लगे रहते हैं। (देखिये गीता ३ । २३-२४ और ४ । ७-८) इसी अवस्थाको पराभक्तिकी प्राप्ति कहते हैं और इसी कारण गीता कहती है कि—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्। (१२ । १२)

अर्थात् त्यागसे शान्ति मिलती है, यहाँ त्यागका अभिप्राय ब्रह्मानन्द अथवा मोक्षके त्यागसे ही है जो संसारके हितकी दृष्टिसे

श्रीभगवान्‌की सेवाके निमित्त किया जाता है। जब स्वयं श्रीभगवान् विश्व-हितके कार्यमें नियुक्त हैं तब ब्रह्मानन्दके उपभोगमें पड़े रहना भक्तिभावके विरुद्ध है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(३।२९।१३)

अर्थात् 'मेरे भक्त सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य तथा सारूप्य-मुक्तिको देनेपर भी मेरी सेवा छोड़कर उन्हें नहीं ग्रहण करते।'

इसी अवस्थाको यथार्थ शरणागतभाव कहते हैं और इसी कारण गीताके अन्तिम अठारहवें अध्यायका नाम मोक्षसंन्यासयोग है।

आत्मानन्दके अनुभवसे भी चित्त ऊब सकता है और इसी कारण समाधिसे भी उठना होता है। परन्तु यह महात्याग ऐसा है कि चाहे जितना अधिक और जितने समयतक इसकी साधना की जाय, शान्तिकी मात्रा बढ़ती ही जाती है और कभी चित्त ऊबता नहीं। क्योंकि इसमें भगवान्‌की नित्य सेवाका अनुराग बढ़ता ही जाता है।

इस महात्यागका साधन भी त्याग है और परिणाम भी त्याग ही है। इस मार्गके पथिक निरन्तर निःस्वार्थभावसे परहित-साधन-में उसे भगवत्-सेवा समझ लगे रहते हैं। वे इस विश्वको भगवद्रूप समझ विश्व-हित-कार्यको भगवत्सेवा मानकर परम निरहंकार और निर्ममभावसे करते रहते हैं और सेवा करनेकी अपनी शक्तिको भी भगवान्‌की ही शक्ति समझते हैं। परिणाम यह होता है कि

ऐसे भक्त और श्रीभगवान्‌में ऐसी घनिष्ठ एकता स्थापित हो जाती है कि सिद्धावस्थामें भक्त केवल निमित्तमात्र बन जाता है और तब श्रीभगवान् स्वयं उसके द्वारा जगत्‌के हितका कार्य सम्पादन करते हैं। इसी अवस्थाको लक्ष्यकर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि—

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। (११।३३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! तू केवल निमित्तमात्र बन जा।'

इसी कारण श्रीभगवान्‌का कहना है कि मैं अपने भक्तका दास हूँ और भक्तद्वारा बद्ध हो जाता हूँ। ऐसे त्यागी भक्त, जो अपनी भक्तिके बल संसारका धारण और रक्षण करते हैं, उनका जीवन धन्य है!

यही महात्याग श्रीराधाभाव है जिसको श्रीरामानन्दरायके संवादमें श्रीमहाप्रभुने सर्वोच्च भाव बतलाया है। ब्रह्मने अपने ब्रह्मानन्दको त्यागकर अपनेको मायाबद्ध-सा कर जो त्याग किया वही संसारका कारण है, अतः यह त्याग ही संसारका मुख्य धर्म है जिससे यह चलता है। पुरुषसूक्तमें इसी त्यागकी संज्ञा यज्ञ है। इसी कारण गीता कहती है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।
(४।३१)

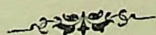
अर्थात् 'हे अर्जुन! जो यज्ञ (त्याग) नहीं करता वह इस लोकमें ही सुखी नहीं होता, परलोककी क्या बात कही जाय!'

यथार्थ वैदिक यज्ञ भी संसारके कल्याणके निमित्त यज्ञपुरुष

परमात्माकी सेवाकी भाँति उनके निमित्त स्वार्थका त्यागकर परार्थ-सेवा करना ही है जिसका दिग्दर्शन गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें है ।

इस महात्यागके द्वारा ही अमरत्व-पदकी प्राप्ति भी होती है । ऐसा महात्यागी भक्त जो विश्व-हित भगवत्सेवाके निमित्त वर्तमान रहता है, श्रीभगवान्से अभिन्न और एकत्व प्राप्त करके तथा उनके दिव्य गुण, ऐश्वर्य और सामर्थ्यका अपनेद्वारा प्रकाश करते हुए भी अपने अस्तित्वका लोप नहीं करता । वह श्रीचैतन्य-महाप्रभुके सिद्धान्तानुसार नित्य श्रीकृष्णदास बना रहता है । श्रीभगवान्के साथ परम एकत्व प्राप्त होनेपर भी इस सेव्य-सेवक-भावका कदापि लोप नहीं होता ।

इस मार्गकी साधनामें प्रारम्भसे ही विश्व-हित-निमित्त निःस्वार्थ भगवत्सेवाकी प्रधानता रहती है और यह सेवा किसी स्वार्थ-कामनासे नहीं; बल्कि निःस्वार्थ भगवत्प्रेमकी प्रेरणासे ही होती है । इस मार्गके पथ-प्रदर्शक सद्गुरु वे जीवन्मुक्त महर्षि हैं जो इस परम पावन श्रीभगवत्प्रेमके कारण मोक्षको त्यागकर विश्व-हित-सेवामें प्रवृत्त रहते हैं । ऐसे सद्गुरु उन्हीं साधकोंको प्राप्त होते हैं जो इस महात्यागपथके सच्चे पथिक हैं और इस त्यागके प्रेम-व्रतके व्रती हैं ।



हृदय अथवा भक्तिमार्ग



श्री भगवान् जीवोंके हृदयोंमें नित्य-निरन्तर निवास करके परम त्याग (यज्ञ) करते हैं—गीताके अनेक श्लोकों (१३ । १७; १५ । १५ और १८ । ६१) से इसकी पुष्टि होती है । जीव सहजहीमें अपने प्राणाराम प्रभुको पा सकें—इसी अभिप्रायसे भगवान्‌ने उनके हृदयोंको अपना निवास-स्थान बना रक्खा है । भगवान्‌की इतनी दया न हो तो निरे पंगु और क्षुद्र परिच्छिन्न जीवोंके लिये यह कदापि सम्भव नहीं कि वे पूर्णातिपूर्ण, परात्पर एवं वाङ्मनोऽतीत अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी प्राप्ति कर सकें । परन्तु खेद है कि उनका इतना दयापूर्ण त्याग होनेपर भी हम उन्हें अपने हृदयमें ढूँढ़नेके

लिये प्रयत्न नहीं करते। यदि कभी जिज्ञासा होती भी है तो वह केवल उन्हें बाहर ढूँढ़नेकी होती है। मृग सुगन्ध-लोलुप होकर कस्तूरीकी खोजमें वन-वन, घाटी-घाटी भटकता फिरता है; पर वह मत्तकारिणी सौरभ उसे कहीं बाहर प्राप्त नहीं होती—वह तो उसके अन्दर—नाभिमें ही है। ठीक यही दशा हमलोगोंकी हो रही है। **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**—इस श्रुतिके अनुसार आत्मा और परमात्माका परस्परमें सख्यभाव होनेसे यद्यपि शुद्ध और मूल आत्माका स्थान भी हृदय ही है; किन्तु जब आत्माका प्रतिबिम्ब अज्ञानके कारण **'अहं-मम'** से प्रेरित होकर विषय-भोग-लिप्साके निमित्त बाह्य विषयोंमें आसक्तिवश मलिन हो जाता है तब जाग्रदवस्थामें नेत्र और स्वप्नावस्थामें कण्ठ उसके निवासस्थान बन जाते हैं। केवल सुषुप्तिअवस्थामें (जब कि अहं-ममात्मक बहिर्मुखी चञ्चल और मलिन वृत्ति कुछ समयके लिये प्रसुप्त और शान्त हो जाती है) जीवात्मा हृदयमें रहता है। उस समय उसकी स्थिति आत्मामें होनेसे उसे अपने स्वरूपके आनन्दका तमावृत अनुभव होता है।

हृदयमें आत्मस्थिति होनेके लिये यह परम आवश्यक है कि हमलोगोंकी वर्तमान स्थिति केवल 'अहं-मम' तक ही सीमित और संकुचित न रहकर क्रमशः ईश्वरोन्मुख होती रहे। इसके लिये हमें इसकी गतिका प्रवाह प्राकृतिक नानात्वकी ओरसे हटाकर आत्मिक एकत्वकी ओर बदलना होगा। अन्तमें होते-होते अहं-ममका यह संकीर्ण नानात्वभाव प्रसरित होकर—एकात्मतत्त्व-

की ओर जाकर—**'वासुदेवः सर्वमिति'** में परिवर्द्धित हो जाना चाहिये। तात्पर्य यह कि त्रिगुणमयी प्रकृतिसे मोहित होकर हमलोग जिन शरीर, परिवार और आत्मीय जनोंको अपना मानकर उनके भरण-पोषणमें ही अपनी समस्त शक्ति लगा देते हैं, उन सबसे आसक्ति हटाकर—उनके साथ कर्तव्य-बुद्धिसे यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, जिनको हम पराये मान रहे हैं उनको भी अपनी आत्मा अथवा परमात्माका अंश समझकर उनकी सेवामें विशेषरूपसे प्रवृत्त हों। ऐसा करनेसे हमें मायिक प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारा मिलेगा एवं अज्ञान-अन्धकारका नाश होगा। पर इस बातका ध्यान रहे कि इस सर्वात्मभावके निश्चयमात्रसे ही—वाचिक ज्ञानसे ही परम लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी; प्रत्युत इस निश्चयको क्रियात्मक रूप देना होगा, अपने दैनिक जीवनमें इसका अभ्यास करना होगा। इस अभ्यासके फलस्वरूप वैराग्यकी उत्पत्ति होगी और उस वैराग्यके उत्पन्न होनेपर स्वार्थपरायणता, कामात्मक भोगलिप्सा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान और राग-द्वेष आदि समस्त तामसिक, राजसिक विकार दूर हो जायँगे, जिन्होंने हृदयस्थ परमात्माको इस प्रकार आच्छन्न कर रक्खा है कि मानो उनके अस्तित्वका वहाँ सर्वथा अभाव ही हो। इन विकारोंके विद्यमान रहते हृदयस्थित परमात्माकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं।

कई ऐसे साधक भी देखनेमें आते हैं जिनका अन्तःकरण प्रायः निर्विकार-सा प्रतीत होता है पर उन्हें भगवत्कृपाका लाभ और साक्षात्कार नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वे शरीर-

यात्राका कार्य करते हुए भी अपने निश्चयका दैनिक जीवनमें अभ्यास नहीं करते। वे कहते अवश्य हैं कि दूसरे सब भी उनकी आत्मा ही हैं किन्तु उनके सुख-दुःखमें अपने सुख-दुःखका-सा अनुभव नहीं करते। अपने दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये वे जितना यत्न करते हैं, वैसा दूसरोंके निमित्त नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि उनकी स्थिति अबतक वस्तुतः व्यष्टिमें ही संकुचित है—समष्टितक उसका विकास हो नहीं पाया है। भगवान् श्रीकृष्णने इस सर्वात्मस्थितिका स्पष्ट वर्णन गीता अ० ६ श्लोक ३२ में इस प्रकार किया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

भगवान्की दृष्टिमें वही परम योगी है जो दूसरेके सुख-दुःखका अनुभव अपने ही सुख-दुःखके समान करता है। अतः सब प्राणियोंको आत्मा या परमात्माका रूप समझकर इस निश्चयके अनुसार साधन करनेपर ही यथार्थ ब्रह्मज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है।

इस एकात्मभावके अनुसार साधकोंके लिये यह परम आवश्यक है कि वे निःस्वार्थ सेवा और करुणाके भावसे प्रेरित हो, अपना मुख्य कर्तव्य मानकर दीन-हीन, असहाय, दरिद्र, दुःखी और पददलित आदिको परमात्माका रूप मानकर उनके दुःखोंकी निवृत्ति, सुखोंकी वृद्धि एवं अभावोंकी पूर्तिके निमित्त यथासामर्थ्य चेष्टा करनेमें सोत्साह संलग्न रहें और इसे परमात्माकी सेवा समझें।

अज्ञानी, पापी और मूर्ख आदिमें ज्ञान, सदाचार, विद्या और भगवद्भक्तिका प्रचार करें। सदा-सर्वदा परहितमें निरत रहना, सब प्रकारके अभिमान और स्वार्थभावका त्याग करना, पर-दुःख-कातर होकर उसके दुःखको दूर करनेको सर्वोच्च और परम धर्म समझकर आत्मोत्सर्ग करनेको नित्य प्रस्तुत रहना आदि इस पथके मुख्य साधन हैं। इस प्रकारके साधनसे शुद्धान्तःकरण और निर-भिमान हो चुकनेवाला साधक ही यथार्थ उपासक कहलाने योग्य है। उसकी उपासनाका मुख्य उद्देश्य स्वार्थसाधन न होकर लोकहितमात्र रह जायगा। वह अपनी साधनाके कारण संसारका बहुत बड़ा चिरस्थायी उपकार करनेमें समर्थ हो सकेगा। ऐसा साधक अपने आराध्य प्रभुकी निर्हैतुकी उपासना, स्मरण-ध्यान-द्वारा अपने स्वच्छ हृदयमें मनको सन्निवेशितकर संसारके हितार्थ (न कि स्वार्थसाधनार्थ, जिसमें मोक्ष भी सम्मिलित है) निरन्तर प्रेमपूर्वक लगा रहेगा और अपने उपदेश—विशेषतः कार्यकलापसे दूसरोंको भी इस सदुद्देश्य-साधनमें नियुक्त करेगा। ऐसा साधक भगवान्के तेजःपुञ्जका एक केन्द्र बन जाता है। इसी केन्द्रसे फैलकर वह तेज सारे संसारको ज्ञानालोकसे प्रकाशितकर कृतार्थ कर देता है यही यथार्थ भाव ईश्वरार्पणका है; क्योंकि ऐसे साधकके पूजन, स्मरण और ध्यानको भगवान् ग्रहणकर उसको लोकहितार्थ व्यवहृत करते हैं। ऐसा होनेपर ही यथार्थ प्रेम-भक्तिका संचार होता है और उसीसे अपने उपास्यके साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित होता है। ध्यानद्वारा तद्गतचित्त होनेसे ध्येयका साक्षात्कार होता है।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।
(भाग० १२ । १३ । १)

श्रीगौरांग महाप्रभुद्वारा दक्षिणसे लाई हुई ब्रह्मसंहिताके पाँचवें अध्यायमें लिखा है कि भक्त अपने उपास्यको प्रेमके नेत्रसे सदा अपने हृदयमें देखते हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

बाधा

निष्काम भक्तिकी उपासनामें चार मुख्य बाधाएँ हैं जिनको दूर किये बिना साधन परिपक्व-अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता।

(१) उपास्योंकी एकता न मानना—अपने उपास्यको अन्य उपास्यसे पृथक् मानना बड़ी भूल है। अनन्यताके नामपर दूसरे उपास्योंको निकृष्ट मानकर अपनेको सबसे उत्कृष्ट मानना नितान्त भ्रान्त भावना है। वस्तुतः सब उपास्य एक ही हैं—सब उसी एक परमात्माके विभिन्न स्वरूप हैं। अतः किसीके उपास्यको अपने उपास्यकी अपेक्षा किसी भी अंशमें न्यून समझना अपने उपास्यका ही अपमान करना है क्योंकि उक्त उपास्य भी वही (अपना ही) है—दूसरा नहीं। अतः इस भेद-भावको दूर करना चाहिये। यह आवश्यक है कि साधक केवल अपने उस एक उपास्यमें ही अनुरक्त रहे जिसकी ओर उसका हृदय आकर्षित हो—

एकसे अधिकको उपास्य न बनावे। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह अपने उपास्यको दूसरे उपास्यसे कदापि भिन्न समझे।

(२) भक्तिमें दूसरी रुकावट अहंकारकी है। साधकके हृदयमें जबतक अहंकार और ममत्व किसी भी अंश और आकारमें विद्यमान रहेंगे तबतक उपास्य परमात्माकी साक्षात् प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। सन्तोंने यह बहुत ही ठीक कहा है—

प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं।

अहंकार-दमन भी जबानी-जमाखर्चकी बात नहीं है—वह बड़ा प्रयाससाध्य है। अहंकारका नाश हो जानेपर सब प्रकारकी इच्छाओंका अभाव और मान-अपमान, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति और शत्रु-मित्रादि द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है। यदि उपास्यके दर्शनकी इच्छा है तो अहंभाव विद्यमान है, जो दर्शन चाहता है। भक्तिमार्गमें अहंकारका नाश न होकर वह आत्मामें परिवर्तित होकर उपास्यमें समर्पित होता है और तबसे सेव्य-सेवक-भावमें भी केवल 'सेव्य' ही रह जाता है। इस स्थितिमें भी सेवा अवश्य जारी रहती है किन्तु सेवक स्वयं अपने अहंकारसे प्रेरित होकर कर्म नहीं करता, वह सेव्यद्वारा संचालित होता है और इस प्रकार उसका अहंभाव मिट जाता है।

(३) ध्यानकी परिपक्वतासे जिस आनन्दका अनुभव होता है उसमें आसक्त हो जाना तीसरी बाधा है। साधन-पथमें इस आनन्द-

स्वादका आना अवश्यम्भावी है किन्तु इसमें आसक्त न होकर इसको अतिक्रम करना चाहिये। अन्तरानन्दका उपभोग करनेकी चाह भी कामना है और यह भिन्नतासूचक है अर्थात् इसमें अहंभाव, जो आनन्दका भोक्ता है, सूक्ष्मरूपसे वर्तमान रहता है।

(४) मोक्षेच्छा अन्तिम बाधा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोक्ष परमोत्तम है किन्तु भक्तिका स्थान मोक्षसे बहुत ही ऊँचा है। मोक्षाभिलाषी अथवा हठयोगी परमात्माके निवासस्थान—यथार्थ हृदय-तक नहीं पहुँचते। वे षट्चक्रके हृदयस्थ उस अनाहत चक्रमें पहुँच सकते हैं जिसमें बारह दलका कमल है किन्तु अनुरक्त त्यागी उपासक उस गुप्त हृदय-देशमें जा पहुँचता है जिसमें अष्टदल कमल है।

दीक्षा और गुरु

श्रीउपास्यके मन्त्रकी दीक्षा किसी गुरुद्वारा अवश्य ली जानी चाहिये। जो दीक्षाकी कोई आवश्यकता न समझकर किसी मनमाने नाम अथवा मन्त्रका निश्चय करके उपासनामें लग जाते हैं वे साक्षात् सम्बन्धके स्थापनमें सुगमताके साथ कृतकार्य नहीं हो सकते। यदि उत्तम गुरुकी प्राप्ति न हो सके तो साधारण सदाचारी गुरुसे ही जिस उपास्यमें स्नेह हो उसका मन्त्र प्राप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि यदि साधक सच्चा अनुरक्त और श्रद्धालु होगा तो स्वयं भगवान् उस दीक्षा-गुरुद्वारा आवश्यक शक्ति प्रदान कर देंगे। जिस अपने उपास्यमें प्रेम हो उसे छोड़कर, जिस उपास्यमें आकर्षण नहीं है उसकी दीक्षा किसी गुरुके अनुरोधसे ले बैठना उचित नहीं है। ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

यथार्थ सद्गुरु

ये सब बाह्य दीक्षा-गुरु उस वास्तविक और अदृश्य श्रीसद्गुरुके प्रतिनिधि हैं जो उपयुक्त उपासना करनेपर श्रीउपास्यकी कृपासे ठीक समयपर स्वयं दर्शन देते हैं। इन्हें न तो ढूँढ़नेकी आवश्यकता ही है और न ये ढूँढ़नेपर मिलते ही हैं। तदनन्तर इनकी सहायतासे ही श्रीउपास्यकी साक्षात् प्राप्ति हो सकती है—अन्यथा नहीं। यह भी अटल नियम है कि श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिसे ही उसे श्रीउपास्यकी भी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे श्रीसद्गुरु भी बाहर न मिलकर अभ्यन्तर-हृदयमें ही मिलते हैं, क्योंकि वस्तुतः उनमें और श्रीउपास्यमें कोई भेद नहीं है। गुरु-गीता आदि ग्रन्थोंमें जिस सद्गुरुका वर्णन है उससे ऐसे सद्गुरुका ही निर्देश होता है जो इस समय भी वर्तमान हैं और अपना कार्य कर रहे हैं। और इस समय भी वे योग्य साधकोंको मिलते तथा दूसरोंको अदृश्य भावसे सहायता करते हैं।



भगवत्प्रेम



थार्थ प्रेमका स्वरूप, अपने प्रेमपात्रकी निर्हेतुक सेवामें प्रवृत्त हो जाना है, जैसे उसके निमित्त कष्ट सहना, परम इष्ट पदार्थका भी त्याग करना, सतत परिश्रम करना आदि । किन्तु ये सब इस भावसे करना कि कष्टके बदले परम आनन्दका अनुभव हो। इस परम त्यागका उद्देश्य प्रेमपात्र-की तुष्टि अथवा प्रीति प्राप्त करना भी नहीं रहता, क्योंकि ऐसा होनेसे भी स्वार्थ आ जाता है । वस्तुतः प्रेम-यज्ञमें प्रेमिकको देनेमें ही प्रसन्नता होती है, वह प्रेमपात्रसे बदलेमें कदापि कुछ नहीं चाहता । प्रेमपात्रसे कुछ भी मिलनेकी आशा रखनेपर प्रेमका लोप हो जाता है और वह खरीद-बिक्रीका व्यापार बन जाता है।

श्रीशंकराचार्यने गीताके भाष्यमें ठीक लिखा है कि भक्तको केवल ईश्वरार्थ ही कर्म करना चाहिये, प्रीत्यर्थ नहीं। युधिष्ठिरने द्रौपदीसे वनवासमें ठीक ही कहा था कि मैं भगवान्‌से कोई प्रार्थना करना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा करना वाणिज्यपन है। 'तत्त्व-चिन्तामणि'* के श्रद्धेय लेखकने ठीक लिखा है कि 'यदि श्री-भगवान् कुछ देना चाहें तो उसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिये' और यदि यह बोध भी हो जाय कि न स्वीकार करनेसे श्रीभगवान् अप्रसन्न हो जायँगे तथापि स्वीकार करना ठीक नहीं। क्योंकि प्रेमका उद्देश्य भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना नहीं बल्कि निःस्वार्थ सेवा करना है और प्रेममें निःस्वार्थ सेवाका सम्पादन ही परम फल है, अन्य कुछ नहीं। निःस्वार्थ सेवाके निमित्त त्याग करनेसे ही भगवान्‌की प्रसन्नता और उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है, उसे इस सेवाके सिवा अन्य कुछ भी गरज़ नहीं रहती।

सांसारिक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि प्रायः माता अपने पुत्रके लिये, मित्र मित्रके लिये तथा पतिव्रता स्त्री अपने पतिके कारण ऐसा त्याग करती है जिससे त्यागकर्ताको सिवा त्यागके कोई लाभ नहीं तथापि ऐसा त्याग, प्रेमके कारण सहर्ष किया जाता है। इस प्रकार सांसारिक भावोंमें भी निःस्वार्थ त्याग केवल शुद्ध, निर्हेतुक प्रेमके कारण देखा जाता है, तब जगदाधार जगत्पालक श्रीभगवान्‌के निमित्त निःस्वार्थ प्रेम करना तो प्रत्येक

* 'तत्त्व-चिन्तामणि' दो भागोंमें छपी है। भाग १, मूल्य ॥=) और भाग २ मूल्य ॥।=) में गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिलती है।

जीवात्माका परम कर्तव्य और धर्म है। श्रीभगवान् अपने आदि संकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम्' की पूर्तिके लिये अपनी अपरिच्छिन्नता-को मायासे बद्ध करके परिच्छिन्न बन नामरूपात्मक जगत्में आविर्भूत होकर उसके आधार और पालक बनते हैं और अपनेको नाना अंशोंमें विभक्तकर जीवात्माका उद्भव करते हैं। ऐसा करने-का मुख्योद्देश्य यह है कि जीवात्मा उनके दिव्य गुण, ऐश्वर्य, शक्ति, और सामर्थ्यको, प्रकृतिका पराभव करके, अपनेमें प्रकाशित करे। श्रीभगवान्को प्रकृतिके साथ युद्धमें जीवात्माको विजयी बनानेके लिये—सिवा लोकहितके, इस संसारके उद्भवसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। श्रीभगवान् प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें बन्दीकी भाँति वास करते हैं जिसमें जीवात्मा उनकी अनुमतिको जानकर उनकी शक्तिके द्वारा जीवनमें युद्ध करे और मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति करे। इस लोक-हित संकल्पकी पूर्तिमें जब बहुत बड़ी बाधा आ पड़ती है तो श्रीभगवान् स्वयं अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमें प्रकट होनेका कष्ट और त्याग सहर्ष स्वीकार करते हैं; ऐसे परम दयालु परमात्माके निमित्त यदि निःस्वार्थ प्रेम-यज्ञ नहीं किया जाय, और उल्टा उनके संकल्पकी पूर्तिमें बाधा डालनेका कार्य किया जाय तो इससे अधिक निन्दनीय और जघन्य दूसरा कौन कर्म हो सकता है? श्रीभगवान्के इस आदिसंकल्पकी पूर्तिमें स्वार्थसाधन, अहंकार, ममत्व, विषय-लिप्साका व्यवहार परम बाधक है। श्रीभगवान्के परमत्याग एवं कारुणिकताको विचारकर उनपर प्रेम रखते हुए उनके निमित्त निःस्वार्थ त्याग ही सबके लिये परम श्रेयस्कर है।

अब विचारणीय यह है कि जीवात्मा यदि मोक्षके समान उत्तम स्वार्थभाव भी नहीं रक्खे; तो उसके जीवन और कर्मका क्या उद्देश्य होना चाहिये ? उत्तर यह है कि प्रेमके नाते श्री-भगवान्‌की सेवा करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये और वह सेवा भी निःस्वार्थ और निरहंकार होनी चाहिये, क्योंकि किसी उच्चस्वार्थका भी लेश होनेसे वह प्रेम-सेवा न होकर स्वार्थ-सेवा हो जायगी। ऐसे प्रेमिककी प्रत्येक भावना, वचन और कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ भी पानेका न होकर केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त सेवा करना रहता है। जिस कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ पाना है, चाहे वह प्राप्ति परम शुद्धि ही क्यों न हो, वह कर्म उसका अपना हो जाता है। उस कर्मको ईश्वरकी सेवा कदापि नहीं कह सकते। इस प्रकार सिद्धिकी इच्छा, पुण्य-प्राप्तिकी इच्छा, वैकुण्ठवासकी इच्छा और भगवान्‌के दर्शनकी इच्छातकका स्वार्थ—कामनाके अन्तर्गत है और इनके निमित्त जो कर्म किये जाते हैं वे बहुत ही उच्च और उत्तम होनेपर भी जीवात्माके अपने निमित्त कर्म हैं, वे भगवान्‌के निमित्त नहीं कहे जा सकते और न इस प्रकारकी सेवा ही भगवत्सेवा कहला सकती है। उपर्युक्त उद्देश्यसे जो त्याग किये जाते हैं, कष्ट सहे जाते हैं, अध्यवसाय किये जाते हैं वे सब परमोच्च स्वार्थ हैं पर निर्हेतुक भगवत्सेवा नहीं। इनके फलस्वरूप सिद्धि, यश और पार्थिव ऐश्वर्य मिलेंगे, भगवद्दर्शन भी होंगे, किन्तु भगवत्प्रेम या यथार्थ भक्तिका प्राप्त होना कठिन है। जब यथार्थ भक्ति ही नहीं तो

यथार्थ भगवत्प्राप्ति कहाँ ? भक्ति बाजारमें बिकनेवाली वस्तु नहीं है जिसको साधनारूपी कीमत देकर खरीद लिया जाय ।

अतएव साधनाका एक उद्देश्य यह है कि साधक साधना करते-करते थककर जब समझ जाय कि उसकी साधनाद्वारा—चाहे वह परम कठिन और दीर्घव्यापी ही क्यों न हो,—भगवत्प्राप्ति न होगी और ऐसा समझकर जब एकमात्र श्रीभगवान्पर भरोसाकर निःस्वार्थ सेवा करना प्रारम्भ करे और किसी बातकी इच्छा न रक्खे, तभी श्रीभगवान्की कृपा होती है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है । अतएव ऐसा सोचकर जप करना कि इतने जपसे और इस प्रकारकी साधनासे भगवद्दर्शन होंगे, यथार्थ भगवत्सेवा नहीं है और उसके कारण यदि कोई दर्शन भी मिले तो वह साधनाकी कीमत है, भगवत्प्रसाद नहीं । इसमें न वास्तविक भक्ति है, न प्रेम; क्योंकि जिस साधनके फलस्वरूप दर्शन मिले उसका उद्देश्य स्वार्थ था, वह भगवदर्थ नहीं किया गया था । श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(३ । २९ । १३)

श्रीभगवान्का वचन है कि 'मैं सालोक्य-मुक्ति, सार्ष्टि-मुक्ति, सामीप्य-मुक्ति, सारूप्य-मुक्ति तथा एकत्व-मुक्ति भी देता हूँ तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई किसी मुक्तिको भी अंगीकार नहीं करते ।' जब कि बिना माँगे एकत्व-मुक्ति मिलनेपर

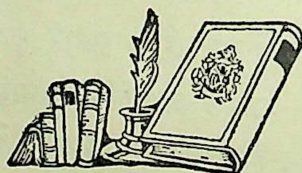
भी भक्त उसको स्वीकार नहीं करते तो वे अपनी सेवाका उद्देश्य भगवद्दर्शन ही क्यों रक्खेंगे ? एक यथार्थ भक्तकी उक्ति है कि 'श्री-भगवान् यह भी नहीं जाने कि मैं उनकी सेवा-भक्ति करता हूँ।' भाव बहुत ठीक है। एक ऋषि भक्तकी, अर्जुनको श्रीभगवान्को सारथी बनाने, द्रौपदीको चीर हरणके समय श्रीभगवान्के पुकारने तथा गजको आर्तनाद करनेकी निन्दा करने और ऐसी प्रार्थनाको भक्तिके विरुद्ध कहनेकी कथा प्रसिद्ध है। अर्जुन तो प्रायः श्री-भगवान्के साथ ही रहते थे किन्तु एक संग रहनेपर भी गीतोपदेश-के पहले उनको यथार्थ ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। अब प्रश्न यह है कि कौन-सी यथार्थ भगवत्सेवा है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिस कार्यमें प्रभु नियुक्त हों, उसी कार्यमें सेवकको भी योग देना यथार्थ सेवा है। श्रीभगवान् संसारके हितके निमित्त धर्मके प्रचार और अधर्मके ह्रास करनेके कार्यमें नियुक्त हैं (गीता ४। ७-८)। क्योंकि सर्वात्मा होनेके कारण प्राणियोंका दुःख उनका दुःख, और सुख उनका सुख है, अतएव जो पराये दुःख-सुखको अपना मान (गीता ६। ३२), भगवन्नाम-प्रचार आदिद्वारा धर्म-प्रचार और अधर्मके ह्रासमें भगवत्सेवाकी भाँति श्रीभगवान्की शक्तिका आश्रय करके निरहङ्कार होकर नियुक्त हैं, वे ही यथार्थ सेवक हैं। भक्तको अपने लिये तो कुछ नहीं चाहिये किन्तु उन्हें संसारके दुःसह कष्टको अपना मान उसके ह्रासके यत्नमें सदा प्रवृत्त रहना चाहिये। इस भावका परमोत्तम प्रमाण श्रीप्रह्लादजी-की उक्ति है—

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखायभरमुद्वहतो विमूढान् ॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदन्यशरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ४३, ४४)

'हे भगवन् ! मुझे वैतरणी आदि नरककी यातनाका भय नहीं है क्योंकि मेरा चित्त तुम्हारे परम चरित्रके अनुशीलनमें मग्न है, किन्तु मुझको उन अज्ञानी लोगोंके लिये चिन्ता है जो तुमसे विमुख होकर इन्द्रियोंके सुखमें लिप्त रहनेके कारण पापका बोझा ढो रहे हैं। हे देव ! (वर्तमान समयके बड़े-बड़े) मुनि लोग प्रायः अपनी मुक्तिकी चिन्तामें रहते हैं, दूसरेकी भलाईकी परवा नहीं करते। जंगलमें चले जाते हैं और किसीसे नहीं बोलते। किन्तु जो तुमसे विमुख दीन हैं, उनको त्यागकर मैं केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहता। क्योंकि तुम्हारी शरण आये बिना संसृतिमें भ्रमण करनेवालोंके कल्याणका कोई अन्य उपाय नहीं है।' श्रीभगवान्‌की सेवाका ठीक आदर्श श्रीप्रह्लादके उपर्युक्त वचनमें है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि श्रीनृसिंहावतारके समय भी अनेक देव और मुनि

केवल अपनी मुक्तिके इच्छुक थे, दूसरोंके दुःखसे दुःखी होना तो दूर रहा वे उसकी परवा भी नहीं करते थे। ऐसे देव, मुनिगणोंकी निन्दा श्रीप्रह्लादजीने ठीक ही की है। श्रीप्रह्लादजीके कथनानुसार यथार्थ भक्त वही है जो अपनी मुक्तिकी इच्छा, अथवा अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा कदापि न रखकर संसारके दीनजनोंके दुःखको अपना दुःख मान स्तुति, जप, स्मरण, ध्यान, योग, यज्ञ, व्रत आदि जो कुछ भी करे, उनका उद्देश्य केवल यही हो कि जनसमूह भगवद्विमुख होनेके बदले ईश्वरोन्मुख हो जाय, जिससे उनका दुःख छूटे और यथार्थ कल्याण हो। यही भक्तके जीवनका एकमात्र मुख्योद्देश्य है और यही निःस्वार्थ प्रेम-सेवा है जो स्वयं श्रीभगवान्‌का कार्य है।



मुक्ति, निर्वाण और भगवत्प्राप्ति

मुकुति निरादरि भगति लुभाने ।



गवद्वाक्य है कि मेरे भक्त मेरे द्वारा मुक्ति दी जानेपर भी उसे ग्रहण नहीं करते; क्योंकि उसके मिलनेपर वे मेरी सेवासे वञ्चित हो जाते हैं[1]। भक्तकी दृष्टिमें भगवत्सेवा मुक्तिसे बहुत उत्कृष्ट है । भगवत्सेवा क्या है ? श्रीभगवान् जिस विशेष कार्यमें प्रवृत्त हैं, उसी भगवत्कार्यमें अहङ्कारको त्यागकर उनकी दिव्य शक्तिद्वारा अपनेको प्रेरित समझकर निष्कामभावसे योग देना ही यथार्थ भगवत्सेवा है । अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि श्रीभगवान् किस विशेष कार्यमें प्रयुक्त हैं, जिसमें योग देना भगवत्सेवा है ? प्रत्येक जीवात्मा श्रीभगवान्का प्रिय अंश है, किन्तु मायाबद्ध है । श्रीभगवान्की

---

१. देखिये—भागवत ३ । २९ । १३

यही इच्छा और महत्कार्य है कि प्रत्येक जीवात्मा मायाका अतिक्रमण करके श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, सामर्थ्य, ऐश्वर्य आदिको (जो बीजरूपमें उसमें निहित हैं) प्रकाशित करे और श्रीभगवान्‌में आत्मनिवेदन करे। आत्मनिवेदन करनेके बाद वह श्रीभगवान्‌के यन्त्रीरूप हाथमें निवेदितात्मा यन्त्रकी भाँति बन जाता है और तबसे उसके द्वारा श्रीभगवान् स्वयं अपना कार्य करते हैं। यही मनुष्यजीवन और सृष्टिका मुख्योद्देश्य है और इसकी पूर्ति करवाना श्रीभगवान्‌का महत्कार्य है। इसीकी अपने और दूसरोंमें पूर्ति करना और करवाना भक्त साधकोंकी भगवत्सेवा है। दैवी सम्पत्ति[1] और ज्ञानके लक्षणों[2] की प्राप्तिसे इस भगवदुद्देश्यकी पूर्त्ति होती है। अतएव इनकी स्वयं प्राप्ति करना और दूसरोंको भी प्राप्त करानेकी चेष्टा करना यथार्थ भगवत्सेवा है।

गीतामें इसीको धर्मसंस्थापन और अधर्मका नाश कहा है, जो श्रीभगवान्‌का मुख्य कार्य है[3]।

श्रीभगवान्‌का महत्कार्य

जब कि श्रीभगवान् सृष्टिके हितसाधनके निमित्त सतत कार्यमें संलग्न हैं और इसके लिये वे समय-समयपर अवतार भी धारण करते हैं, ऐसी हालतमें भक्त साधकका उनकी सेवा त्याग-

---

१. भगवद्‌गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तक।

२. भगवद्गीता अ० १३ श्लोक ८ से १२ तक।

३. भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ७ और ८

कर, मुक्ति लेकर, कर्मसे अवकाश ले लेना एक प्रकारका उच्च स्वार्थ है और यह भक्तिके, जिसमें स्वार्थ-त्याग मुख्य है, विरुद्ध है। इस कारण भक्तोंकी दृष्टिमें मुक्ति हेय है। श्रीभगवान्‌के साथ एकनिष्ठता होनेके कारण उनकी सृष्टिलीलाके रहते उसमें योग देना और अवकाश (प्रलय) के समय अवकाश लेना ही साधक भक्तका कर्तव्य है।

भक्तिकी श्रेष्ठता

साधारण योगसाधन, तपस्या आदिद्वारा त्रिगुणमयी मायासे मुक्ति मिल सकती है। केवल सांख्यज्ञानकी निष्ठासे अहंकार, ममता, वासना आदिको त्याग देनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे मुक्त पुरुष त्रिलोक अर्थात् स्वर्गके भी ऊपर जाकर आवागमन, जन्ममरण आदि संसृतिसे मुक्त हो सकते हैं। किन्तु जब कि श्रीभगवान् अपने उद्देश्य सृष्टिहितसाधनकी पूर्तिमें लगे हुए हैं, जिसमें सेवाकी दृष्टिसे योग देना साधकोंका परम कर्तव्य है, उसका तिरस्कारकर जो साधक मुक्ति ग्रहण करते हैं, उन्हें परम शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि इस तरह उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होती। परम शान्ति तो मुक्तिके त्यागसे मिलती है, जैसा कि गीताका कथन है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'**। परम शान्ति केवल श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें है, जो केवल चरण-प्रविष्ट होने-से मिलती है, अन्यथा त्रिगुणका अतिक्रमण करनेपर भी उसका मिलना असम्भव है। यह चरणप्राप्ति श्रीप्रह्लादकथित भक्तिकी साधना अवलम्बन करनेसे होती है। श्रीप्रह्लादने श्रीनृसिंह भगवान्-

से कहा कि 'मुझको नरककी यातनाका भी भय नहीं है, क्योंकि मेरा चित्त आपके चरणमें संलग्न है। यही कारण है कि नरकसे भी त्राण दिलानेकी प्रार्थना मैं नहीं करता। मुझको तो चिन्ता उन लोगोंकी है जो विषय-भोगमें लिप्त रहते हुए आपसे विमुख हैं। मैं ऐसे लोगोंको दुःखसागरमें छोड़कर अकेले मुक्ति लेना नहीं चाहता। मैं उन लोगोंको जो आपसे विमुख हैं, आपके चरणोंमें लगानेकी सेवा करना चाहता हूँ। क्योंकि इसके बिना उनका दुःख कदापि दूर न होगा। देव और मुनि भी केवल अपना स्वार्थ चाहते हैं, दूसरोंके हितकी परवा नहीं करते।'* भक्तप्रवर प्रह्लादकी यह उक्ति ही यथार्थ भगवत्सेवा है और यही भगवान्‌का महत्कार्य है, जिसमें वह प्रवृत्त रहते हैं। इस सेवाकी पूर्त्तिके बिना यथार्थ भक्त साधकको विश्राम कहाँ ? जैसा कि श्रीहनुमान्‌जीने कहा—**'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम'** यही श्रीराम-कार्य है।

परहितसाधनका लक्ष्य

शोक है कि आजकल साधक भक्त परहितनिरत होना नहीं चाहते, जो भक्तका मुख्य लक्षण है—**'रामभगत परहितनिरत, परदुखदुखी दयाल।'** वे केवल अपना व्यक्तिगत कल्याण चाहते हैं और इसी कारण अपनी मुक्ति ही उनका परम लक्ष्य होता है। ऐसे साधकोंको मुक्ति तो मिलती है, किन्तु भगवत्-प्राप्ति नहीं होती। एक उच्च साधक मुक्तिके निमित्त व्याकुल थे। उनसे

* देखिये—भागवत ७। ९। ४३-४४

स्वप्नमें एक महात्माने कहा कि तुम मन्त्र लो, इसके द्वारा मुक्ति शीघ्र मिल जायगी। वह बहुत बड़े गुरुभक्त थे। उन्होंने महात्मा-से कहा कि मैं आपके मन्त्रको बिना अपने गुरुकी आज्ञाके ग्रहण नहीं कर सकता, यद्यपि इससे मुक्ति ही क्यों न मिले। और यह कहकर उन्होंने मन्त्र ग्रहण नहीं किया। जब उन्होंने इस स्वप्नकी बात अपने गुरुदेवसे कही तो उन्होंने कहा—'रात्रिमें महात्मा-गण भ्रमण करते हैं और उत्तम तथा शुद्ध साधकको दीक्षाद्वारा सहायता करते हैं। यदि तुम मन्त्र ग्रहण कर लेते तो मुक्ति अवश्य मिल जाती, किन्तु मन्त्रका त्यागकर तुमने बहुत अच्छा किया। कारण मुक्ति मिलनेसे भगवत्प्राप्ति न होती।'

भक्तिसाधना

भगवत्प्राप्ति केवल सब भावसे श्रीभगवान्‌के शरणागत होनेसे होती है, जिसके लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन, प्राण, बुद्धि और आत्मातकको अर्पण करना होता है। ऐसा अर्पण तभी सम्भव है जब ममता और अहंकार मिटकर श्रीभगवान्‌में अनुराग हो और निष्काम भगवत्सेवामें प्रवृत्ति हो। इसके लिये आवश्यक है कि विचार-विवेकके द्वारा शरीर, मन आदि अनात्म उपाधिमें अहंकार न रखकर शुद्ध आत्मामें स्थित हों और विषयसे वैराग्य होनेके कारण इन्द्रिय और मन शुद्ध और शान्त हो जायँ। भोजन केवल शरीरकी रक्षाकी दृष्टिसे किया जाय, स्वादके निमित्त कदापि नहीं। स्त्रीको देखकर पवित्र जगन्मातृभाव आवे अर्थात् स्त्रीमात्र जगज्जननी परमेश्वरी समझी जाय और मनमें तनिक भी कामविकार

न आवे। मन एकाग्र, विकार और मलरहित और शान्त हो जाय। यह अर्पण हृदयस्थ श्रीभगवान्‌के प्रति होगा। अतएव काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, अभिमान, ईर्ष्या इत्यादि विकारोंसे हृदयकी शुद्धि सर्वप्रथम अत्यन्त आवश्यक है। इसके बाद यह परमावश्यक है कि साधक परमकारण श्रीभगवान्‌को सब प्राणियोंमें वर्तमान देखे, जैसा कि गीताका वाक्य है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

श्रीभगवान्‌का यह विश्वभाव केवल कथनमात्र नहीं होना चाहिये, बल्कि कार्यमें उसका पूरा व्यवहार होना चाहिये। और इसके लिये आवश्यक है कि दूसरेके दुःखको अपना दुःख जानकर उसकी निवृत्तिकी यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये और दूसरेके सुखको अपना सुख मानकर दूसरोंको सुखी बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये; जैसा कि गीताका वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

चूँकि दुःखकी यथार्थ निवृत्ति और सच्चे सुखकी प्राप्ति ईश्वरोन्मुख होनेसे होती है, अतएव स्वयं ईश्वरोन्मुख होनेका यत्न करते हुए दूसरोंको भी ईश्वरोन्मुख करनेका यत्न करना परम

भगवत्सेवा है। अन्तिम, सर्वव्यापी, मुख्य और परमोच्च साधना वही है जिसे श्रीनारदने अपने सूत्रमें कहा है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

इसका भाव यह है—अपने बाह्याभ्यन्तरके सर्वस्वको अर्थात् आभ्यन्तरिक शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन, प्राण, बुद्धि, विद्या, ज्ञान, आत्मा आदिको और बाह्यस्थ धन, सम्पत्ति, परिवार, कलत्र, सम्बन्धी आदिको अपना न मान अर्थात् इनमें ममत्व त्यागकर इनको श्रीभगवान्‌की सम्पत्ति जानकर आसक्तिरहित हो निष्काम-भावसे निरहंकारबुद्धि रखकर भगवत्सेवाकी दृष्टिसे श्रीभगवान्‌के कार्यमें नियुक्त करना और अपने सांसारिक तथा पारमार्थिक दोनों कर्तव्योंको भगवत्सेवा समझकर केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त सम्पादन करना और उनके फलाफलमें आसक्ति न रखकर समान रहना और यह समझना कि जो कुछ युक्त कार्य किये जाते हैं वे सब श्रीभगवान्‌की शक्तिद्वारा होते हैं और उसका श्रेय केवल श्रीभगवान्‌को है तथा जो अयुक्त कार्य हुए वे अहंभाव और ममताके कारण प्रकृतिके गुणोंसे प्रेरित होकर किये जाते हैं और उनका दायित्व कर्त्तापर है—यही श्रीभगवान्‌में सर्वकर्मार्पण है, जिसका विधान ऊपरके नारदसूत्रमें है। सूत्रका दूसरा भाग है, श्रीभगवान्‌का क्षणभर भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल होना। यह भाव भी परम प्रेमका भाव है। जबतक हमलोग सब प्राणियोंमें सर्वत्र

सर्वदा श्रीभगवान्को विराजमान नहीं देखेंगे और प्रेमके कारण सब प्रकारके कर्म उनके कर्म समझकर न करेंगे तबतक यह सदा-सर्वदा स्मरण रखनेका भाव नहीं आ सकता। इस भावके निमित्त यह नितान्त आवश्यक है कि प्रातः-सन्ध्या श्रीभगवान्के मन्त्रका जप और उनकी दिव्य मूर्तिका ध्यान हृदयमें नियमसे प्रेमके साथ किया जाय और उसके बाद किसी गौण नामका मानसिक चिन्तन निरन्तर किया जाय।



साक्षात् भगवत्प्राप्ति



शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके दो प्रकारके उपाय बतलाये गये हैं। उनमेंसे एक तो साक्षात् भगवत्प्राप्तिके प्रदान करनेवाले हैं जो विशेषकर गुण और भावमूलक हैं। दूसरे उपाय प्रधानतः साधनामूलक हैं जो गुण और भावोंकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। तथा इनके द्वारा ही भगवत्प्राप्तिके कारण बनते हैं। साधकोंकी विशेष प्रवृत्ति और अनुरागके निमित्त साधनाको भी भगवत्प्राप्तिका उपाय कह सकते हैं, क्योंकि वह साक्षात् नहीं तो गौणरूपसे भगवत्-प्राप्तिका कारण अवश्य होती है। साधनाके बिना अभीष्ट गुण-भावकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती, इसलिये वह परमावश्यक वस्तु है। जिस प्रकार नींवकी दृढ़ताके बिना मकान ठहर नहीं सकता उसी प्रकार साधनाकी दृढ़ताके बिना भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप गुण-भाव भी चिरस्थायी नहीं हो सकते। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिमें

गुण-भाव लक्ष्य हैं और साधना उनकी प्राप्तिके उपाय हैं। इन दोनोंके भेद और पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान रखना परमावश्यक है। क्योंकि जिन गुण-भावोंकी प्राप्तिके लिये साधना की जाती है उनके महत्त्व और प्रयोजनको न जाननेसे वह कभी सफल नहीं हो सकती। इस रहस्यके न जाननेके कारण ही लोग गुणभावोंकी अवहेलना कर उनके विरुद्धाचरण करते हैं तथा साधनाको ही साक्षात् प्राप्तिका मूल कारण मानकर भगवत्प्राप्तिको क्रय-विक्रयकी वस्तु बना डालते हैं। इस प्रकारकी साधनाओंमें बाह्यरूपसे निष्कामभावका चाहे कितना ही प्रदर्शन हो, आन्तरिक भावना तो सदा यही रहती है कि साधनमें कष्ट उठानेसे उसके फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु यह ठीक नहीं। भगवान्‌को साधनरूपी कीमत देकर कोई नहीं खरीद सकता, इस भावके साधक अनेक कष्ट सहनेपर भी जब भगवत्-प्राप्ति नहीं कर पाते तो समझ लेते हैं कि क्रय-विक्रयकी भावनारूप साधनसे उसकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है और तब वे श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, अहिंसा, सत्य, क्षमा, परोपकार, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, आत्मज्ञान, निर्मोह, शम, दम, समता आदि (गीता १० । ४-५) तथा निष्काम सेव्य-सेवक-भावको धारण करते हैं और उन्हें अपने दैनिक जीवनके अभ्यासमें लगाते हैं। जिससे भगवत्प्राप्ति तो क्या, स्वयं भगवान् ही सेवक बन जाते हैं। एक महात्माका कथन है कि साधना करनेका तात्पर्य यह है कि उसके अभ्याससे थककर साधक जान ले कि केवल साधनासे ही नहीं बल्कि निष्कामभावसे श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण और सेव्य-सेवक-भावके धारण करनेपर

ही दुर्लभ भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि 'न वेद, न यज्ञ, न स्वाध्याय, न दान, न कर्म और न उग्र तपके द्वारा ही कोई इस लोकमें मुझे देख सकता है (गीता ११। ४८)। तथा मेरे स्वरूपको हे अर्जुन! जैसा तुमने देखा है वैसा (प्रत्यक्ष दर्शन) कोई वेद, तप, दान अथवा कर्मके द्वारा नहीं देख सकता; (गीता ११। ५३) एवं साधक (योगी) वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्य-फल प्राप्त होते हैं, उनसे परे जाकर परम पदको प्राप्त करते हैं (गीता ८। २८)। इस प्रकार एक ही सिद्धान्तका बारंबार अनुवाद होनेसे उसकी परम सत्यता स्वतः सिद्ध होती है।

मिथ्या धारणासे हानि—गुण-भावके महत्त्वको न जानकर केवल साधना करनेवाले उनकी प्राप्तिके अवसरको पाकर उनकी अवहेलना ही नहीं करते; बल्कि उनके विरुद्ध आचरण करते हैं जिससे बड़ी हानि होती है। इस प्रकारकी साधनासे सिद्धियोंकी प्राप्ति भले ही हो, किन्तु भगवत्प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। वह तो दिव्य गुणभाव अर्थात् निष्काम प्रेमाभक्तिसे होती है (गीता ११। ५४)। गुणभावकी प्राप्तिके लिये दुर्गुणोंको छोड़कर दिव्य गुणका ग्रहण तथा भोगात्मक स्वार्थभावको छोड़कर ईश्वरार्थ निष्कामभावको ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

विकारनाश—विकार (दुर्गुणों) के निवारणके विषयमें भगवान्ने गीतामें कहा है कि काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं, यह कभी न शान्त होनेवाले महापाप हैं, इन्हें अपना शत्रु

समझो (गीता ३। ३७)। काम, क्रोध और लोभ यह नरकके तीन द्वार हैं, इनसे अपना ही सत्यानाश होता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये (गीता १६।२१)। मरनेके पहले इस जन्ममें ही जो काम-क्रोधके उद्भव और वेगको सहन कर सकता है वही सिद्ध और सुखी मनुष्य है (गीता ५। २३)। इच्छा, द्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वके मोहसे हे भारत! सब प्राणी सम्मोहित हो आवागमनमें पड़ते हैं (गीता ७।२७)। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या-द्वेषके निवारणका उपदेश देते हुए भगवान्‌ने इन्द्रियनिग्रहको भी परमावश्यक बतलाया है (गीता ४।२६-२७)।

दिव्य गुण—दूसरोंके दुःखको अपना दुःख और सुखको सुख मानकर जहाँतक अपनेसे हो सके, दूसरोंके दुःखको दूरकर तथा उनकी सुखवृद्धिमें सहायक बन सब प्राणियोंका हित करना सबसे बड़ा गुण है। अपने दोषोंको नष्ट करके, द्वन्द्वभावको हटा, सब भूतोंके हितमें रत संयमी ऋषिलोग ब्रह्मरूपी निर्वाणपदको प्राप्त होते हैं (गीता ५।२५)। हे अर्जुन! सुख अथवा दुःखमें जो अपने ही समान सर्वत्र देखता है वह योगी महान् है (गीता ६। ३२)। इस प्रकार समभाव और सहानुभूति भी दो दिव्य गुण हैं। असंमोह, क्षमा, सत्य, शम, दम, अहिंसा, समता, संतोष आदि जो स्वयं श्रीभगवान्‌के भाव हैं उनका पालन करना आवश्यक है (गीता १०। ४-५)। अत्यन्त द्वेष-शून्यता, मैत्री, करुणा, ममता-राहित्य, निरहंकार, क्षमाशीलता, सुख और दुःखमें समान भाव, सतत संतुष्टि, निश्चयमें दृढ़ता, श्रीभगवान्‌में मन और बुद्धिको अर्पित करना, हर्ष, शोक, अमर्ष और उद्वेगसे

निवृत्ति, अनपेक्षा, शुचिता, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति आदिमें समान भाव, यथालाभमें संतुष्टता आदि भक्तके दिव्य गुण हैं । यही क्यों, जन्म-मरण, जरा-रोगसे निवृत्ति और अमृतत्वका लाभ तथा ब्रह्मकी प्राप्ति जिस त्रिगुणातीत अवस्थासे होती है वह भी दिव्य गुण ही है । सुख-दुःखमें समान भाव, स्वस्थता, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु और मित्र सबमें समानभाव, तथा अभय, सत्त्व-संशुद्धि आदि समस्त दैवी सम्पत्तियाँ भी दिव्य गुण हैं ।

दिव्य भाव—भोगसम्बन्धी स्वार्थकामनाको त्यागकर कर्तव्य-कर्मोंको, फलकी कोई भी आकांक्षा न रखते हुए ईश्वरके निमित्त उसके ही कर्म समझकर आचरण करना दिव्य भाव है (गीता ९ । २७; ११ । ५५; १२ । ६–१०) ।

परम भाव—सर्वत्र सब प्राणियोंमें ईश्वरको परम कारण और सुहृदरूपसे जानकर उन (प्राणियों) की तुष्टिके द्वारा उन (ईश्वर) की सेवा करना, तथा सबमें श्रीभगवान्‌को और श्रीभगवान्‌में सबको देखना परम भाव है, इस भावके द्वारा स्वयं श्रीभगवान्‌के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है (गीता ४।३५; ५।७; ६।२९–३१; ७।७–१०, १९; १०। ४२)।

मुख्य साधना—आजकल अधिकतर साधकोंको यह अच्छी तरह विदित नहीं होता कि मुख्य साधन क्या है ? श्रीमद्भगवद्गीताने तो ईश्वरस्मरणको ही सब साधनोंमें मुख्य माना है । सदा भगवान्‌का स्मरण करते हुए कर्तव्य कर्मोंको करना तथा यह समझना कि

समस्त कर्म उन्हींके हैं, एवं मन, बुद्धिके साथ समस्त कर्मोंको निरहंकारभावसे श्रीभगवान्‌को अर्पण करना, अनन्य चित्तसे उनका स्मरण और कीर्तन करना, नित्ययुक्त होकर उनकी उपासना करना, परस्पर श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, स्वरूप, यश आदिका चिन्तन करना, एवं प्रेमसे भगवद्भजन करना, यही मुख्य साधन है (गीता ९ । १४, २७, ३४; १० । ९-१०; १२ । १३)।

नवधा भक्तिमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन यह छः साधनाएँ हैं, तथा शेष तीन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भाव हैं; इनकी प्राप्तिके बिना साधना परिपक्व नहीं हो सकती। साधनाकी प्रगतिमें इस प्रकार तारतम्य होता है—पूजा, स्तुति, जप, ध्यान और लय । कहा भी है—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥

साधनामें ध्यान अन्तिम अवस्था है जिसका अन्त लय अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें होता है ।

गुण और भावका सम्बन्ध—बहुतोंका यह भी भ्रम है कि अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि दिव्य गुणोंके बिना ही भगवद्भावकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु जिस प्रकार पौधेके बिना पुष्पका होना सम्भव नहीं उसी प्रकार सद्‌गुणोंके बिना सद्भावका होना भी सम्भव नहीं है। सद्‌गुणसम्पन्न पुरुष ही दास, सख्य और मधुरभावको प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं। गुण-भाव और साधनके पारस्परिक सम्बन्धको न जाननेवाले अनेक साधक साधनमें निष्ठा रखते हुए भी काम,

क्रोध, लोभ, असत्य आदि दुर्गुणोंमें पड़े रहते हैं और समझते हैं कि इनके रहनेपर भी केवल साधनके बलसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह नितान्त भूल है। दुर्गुण कभी साधनाको सफल नहीं होने देते, इसी प्रकार कुछ लोग चरित्र-गठनके अभिलाषी बनकर केवल अपनी चेष्टासे ही दिव्य गुणकी प्राप्ति करना चाहते हैं, परन्तु यह असम्भव है। क्योंकि बिना भगवद्भजनरूप साधनके चरित्रवान् अथवा दिव्य गुणयुक्त होना आकाशकुसुमके समान है। केवल विचार और इच्छाशक्तिके द्वारा बाह्यरूपसे चरित्रनिर्माण हो जानेपर भी अन्तर्चरित्रका निर्माण अर्थात् स्वार्थत्याग, सर्वत्र आत्मदर्शन आदि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इनकी प्राप्ति तो आत्मविकासके द्वारा ही सम्भव है। अतः साधन और सद्‌गुणका कार्यकारणसम्बन्ध स्पष्ट है तथा इन दोनोंके द्वारा भावकी प्राप्तिका होना भी निश्चय है। प्रारम्भमें साधनाके साथ-ही-साथ सत्-गुणकी प्राप्तिमें भी सचेष्ट रहना आवश्यक है। आजकल प्रायः अधिकांश लोग दिव्य गुणोंकी प्राप्तिको महत्त्वपूर्ण न मानकर इसकी ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देते बल्कि किसी सरल पथ अथवा साधनविशेषकी खोजमें रहते हैं और सद्‌गुणोंकी प्राप्तिको कठिन जान उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। परन्तु यह याद रखनेकी बात है कि यदि अन्तःकरणके भाव मलिन हैं तो किसी भी क्रियाके द्वारा भगवत्प्राप्ति असम्भव है।

लेखकने एक बार महात्मा गान्धीसे निवेदन किया था कि केवल अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणोंके उपदेशसे ही जनता

किस प्रकार अहिंसक, सत्यवादी आदि हो सकती है, मनुष्यकी कमज़ोरी, इन्द्रियलोलुपता, स्वार्थपरता आदि केवल उपदेशसे किस प्रकार दूर हो सकते हैं ? इसलिये क्या यह ठीक नहीं है कि अहिंसा, सत्यादिका पालन ईश्वरस्मरणके साथ-साथ हो ? महात्माजीने कहा कि 'बात ठीक है और ऐसा ही होना चाहिये ।'

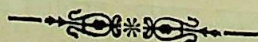
भगवत्प्राप्तिके तीन भाव—

(१) 'सब प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर है' यह जानकर अपने मन और बुद्धिके मलको दूरकर, चित्तको अभ्यास-वैराग्यके द्वारा शान्त कर, अपने आत्मामें स्थित हो निर्हेतुक उपासना और ध्यानद्वारा परमात्माको प्रत्यक्ष करनेका यत्न करना ।

(२) सर्वत्र प्राणियोंमें ईश्वरको वर्तमान जान उनकी निष्काम सेवा करना और इस प्रकार सर्वदा ईश्वर-स्मरणमें संलग्न रहना ।

(३) संसारकी सब वस्तुओंको ईश्वरकी सम्पत्ति जान उनमें ममत्वका त्याग करना तथा ज्ञान, बल, क्रिया आदिको ईश्वरकी स्वाभाविक शक्ति जानकर अहंकारसे बचना एवं निर्मम, निरहंकार होकर लोकहित कार्योंको यथार्थ ईश्वरसेवा समझ, फलकी बिना आकांक्षाके उनमें प्रवृत्त होना ।

इन्हींसे साक्षात् भगवत्प्राप्ति होती है ।



भगवद्दर्शन



धकोंमें प्रायः श्रीभगवान्‌के दर्शनकी प्रबल आकांक्षा दीख पड़ती है और उसकी पूर्ति न होनेसे अनेकों-के मनमें निराशा आ जाती है जिसके कारण साधनमें शिथिलता तथा श्रद्धामें कमी आना स्वाभाविक हो जाता है। अतएव इस विषयपर कुछ विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है।

दर्शन-दुर्लभता—श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(११।८)

'हे अर्जुन ! तुम अपने चर्म-चक्षुओंसे मेरे रूपको नहीं देख सकते हो, इसलिये तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ । मेरे प्रभाव और योगको देखो ।'

दर्शन देनेके उपरान्त फिर श्रीभगवान् आगे जाकर कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

(गीता ११ । ४८)

'हे अर्जुन ! यह रूप तेरे सिवा इसके पूर्व दूसरेके द्वारा नहीं देखा गया और न इस नरलोकमें वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, क्रिया तथा उग्र तपके द्वारा ही यह देखा जा सकता है ।'

श्रीभगवान्के दर्शनके विषयमें महाभारतके शान्तिपर्वमें भी एक कथा आती है । देवर्षि नारदके हृदयमें श्रीनारायणके दर्शनके लिये भगवत्प्रेरणा हुई और वह मेरुपर्वतके शिखरसे गन्धमादन नामक पर्वतके शिखरपर जा पहुँचे और वहाँसे शीघ्र ही बदरिकाश्रममें जा पहुँचे जहाँ नर-नारायण उग्र तपमें लगे थे । उन्होंने देवर्षि नारदकी यथावत् पूजा की । पश्चात् उसी प्रसंगमें नारदजीने श्रीनारायणसे पूछा—

पूजां गुरूणां सततं करोमि
परस्य गुह्यं न तु भिन्नपूर्वम् ।

वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ
तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥
गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे
शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम् ।
तं चादिदेवं सततं प्रपन्न-
मेकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वं
कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम् ।

(महा० शान्ति० ३३५ । ३-५)

'हे लोकनाथ ! मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया है, मैंने तप भी किया है और पहले मैं असत्य भी नहीं बोला हूँ, मैं अपने गुरुजनोंकी सदा पूजा करता हूँ, दूसरोंकी गुप्त बातोंको मैंने पहले कभी प्रकट नहीं किया है। मैंने शास्त्रानुसार (हाथ, पैर, उदर और उपस्थ) इन चारोंको कुकर्मसे बचाया है। मैं शत्रु और मित्रमें सदा समदृष्टि रखता हूँ, सदा आदिदेव परमात्माकी शरण रहता हूँ, तथा अनन्यभावसे उनकी पूजा करता हूँ, इन विशिष्ट गुणोंसे सम्यक् रूपसे शुद्ध सत्त्व होनेपर भी अनन्त ईश्वरका दर्शन मुझे क्यों नहीं होता ?'

परन्तु इस प्रश्नका उत्तर बिना दिये ही श्रीनारायणने नारदजीकी विधिवत् पूजा करके उनको विदा किया। नारदजी वहाँसे मेरु पर्वतकी ओर चले गये। उस पर्वतके वायव्यमें श्वेतद्वीप

है। उसी श्वेतद्वीपमें सनकादि ऋषियोंको क्षणिक, तथा देवर्षि नारदको पूर्ण ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ। वह कथा इस प्रकार है—

सत्ययुगमें परम धर्मात्मा उपरिचर नामके राजाने अश्वमेध-यज्ञ किया, उसमें कोई पशु-हिंसा न हुई और यज्ञके होताओंमें देव-गुरु बृहस्पति पुरोहित बनकर अग्निमें आहुति देते थे। उस यज्ञमें अन्य देवताओंके समान श्रीभगवान्‌ने भी स्वयं प्रकट होकर अपना यज्ञभाग ग्रहण किया था। लोगोंने प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌के यज्ञभागको आकाशमें ऊपर जाते देखा, परन्तु राजाके सिवा ऋषिगण भी श्रीभगवान्‌का दर्शन न कर सके। देवगुरु श्रीबृहस्पति भगवान्‌का दर्शन न पानेके कारण आवेशमें आ गये और उन्होंने स्रुवाको उठाकर क्रोधसे अन्तरिक्षमें ऊपर फेंका। इसपर उपस्थित ऋषियोंने उन्हें समझाते हुए कहा—

न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते॥
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति।

(महा० शान्ति० ३३६। १९-२०)

'हे बृहस्पते! उनको (परमात्माको) हम या आप नहीं देख सकते। वह जिसपर कृपा करते हैं, वही मनुष्य उनको देख सकता है।'

इसके बाद सनकादि मुनि बृहस्पतिको समझाते हुए कहने लगे कि 'हे बृहस्पते! सुनो, हमलोग ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। श्रीनारायणके दर्शनके निमित्त हमलोगोंने सुमेरुके उत्तरभागमें एक हजार वर्षतक कठिन तपस्या की।' तपस्याके बाद आकाश-

वाणी हुई कि 'हे ऋषियो ! तुम्हारी मनोकामना श्वेतद्वीपमें सिद्ध होगी ।' इसे सुनकर हमलोग श्वेतद्वीपमें गये । वहाँ श्रीभगवान् हमें दर्शन देकर शीघ्र ही अदृश्य हो गये । कारण यह था कि श्रीभगवान्‌के महान् तेजके प्रभावसे आच्छन्न होनेके कारण हमारे नेत्र चौंधियाकर उनके दर्शन करनेमें असमर्थ हो गये । उस क्षणिक दर्शनसे भी हममें विज्ञानका उदय हुआ । तब फिर हमने सौ वर्षोंतक तप किया । हमलोगोंने श्वेतद्वीपके महातेजा महात्माओंको देखा जो मानसजप करते थे । इसके बाद पुनः ज्योतिका प्रादुर्भाव हुआ जिसकी महात्मागण अर्चा और स्तुति करने लगे । परन्तु नेत्रोंकी ज्योति तथा इन्द्रियोंकी शिथिलताके कारण हमने केवल महात्माओंद्वारा की हुई स्तुतिको सुना, परन्तु उनके तेजको देखनेमें हम असमर्थ थे । तब उस अदृश्य पुरुषने हमसे कहा कि—

दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥
दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ।
गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ॥
न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन ।
कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः ॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ।
महत् कार्यञ्च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च ।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ ।

एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥
देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि ।
(महा० शान्ति० ३३६ । ५२-५९)

'सर्वेन्द्रियविवर्जित श्वेतवर्ण महात्माओंके दर्शन होनेसे श्रीभगवान्का दर्शन प्राप्त होता है । तुमलोग जहाँसे आये हो वहाँ शीघ्र वापस जाओ, भक्तिहीन पुरुष किसी प्रकार भी श्रीभगवान्का दर्शन नहीं पाता । हे द्विजसत्तमगण ! बहुत कालतक तुमलोग एकान्तनिष्ठ होनेपर प्रभामण्डलद्वारा दुर्दर्श श्रीभगवान्का दर्शन करनेमें समर्थ होओगे । इसके लिये तुम्हें महान् कार्य करना होगा । हे विप्रवर ! इसके बाद सत्ययुगके बीतनेपर वैवस्वत मन्वन्तरमें त्रेतायुगके प्रारम्भकालमें देवताओंकी कार्य-सिद्धिमें तुमलोग सहायक बनोगे ।'

'इस प्रकार हे बृहस्पते ! जब परम कठोर तपस्या और हव्य-कव्यके देनेसे हमलोग श्रीभगवान्के दर्शन न पा सके तो तुम किस प्रकार उनका दर्शन पा सकते हो ?'

इसके बाद नारदजीके परमात्मदर्शनकी कथा आती है । देवर्षि नारदने श्वेतद्वीपमें जाकर वहाँके श्वेतवर्ण महात्माओंका दर्शनकर उनकी पूजा तथा उनका मानसिक आशीर्वाद प्राप्तकर श्रीभगवान्की स्तुति की । तदनन्तर भगवान्ने उन्हें दर्शन दिया और उनसे कहने लगे—

न च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन ।
ऋते ह्यैकान्तिकश्रेष्ठात्त्वं चैवैकान्तिकोत्तम ॥
(महा० शान्ति० ३३९ । १३)

'हे नारद ! मैं सनकादिके दर्शनार्थ यहाँ उपस्थित था, परन्तु वे मेरा दर्शन करनेको समर्थ न हुए और न कोई अनन्य भक्ति बिना मुझको देख ही सकता है । तुम अनन्य भक्तोंमें श्रेष्ठ हो, इसलिये तुम्हें मेरा दर्शन प्राप्त हुआ ।' तथा—

उवाच वचनं भूयो गच्छ नारद मा चिरम् ॥
इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ता चन्द्रवर्चसः ।
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥
सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥

(महा० शान्ति० ३३९ । १८–२०)

श्रीभगवान् फिर बोले कि 'हे नारद ! तुम शीघ्र ही यहाँसे चले जाओ । यह चन्द्रमाकी-सी कान्तिवाले इन्द्रिय और आहाररहित मेरे भक्त हैं, यह एकाग्रचित्तसे मेरा चिन्तन कर रहे हैं, इनके काममें विघ्न नहीं पड़ना चाहिये । यह पुरुष महाभाग्यवान् हैं और अभी सिद्ध हुए हैं, पहले मेरे अनन्य भक्त थे, अब यह रजोगुण और तमोगुणसे रहित मुझमें प्रवेश करेंगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।' तथा—

न ह्येतद्ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥
यत्त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना ॥

(महा० शान्ति० ३९९ । १०७–१०८)

'हे नारद ! ऐसा मेरा दर्शन, जैसा कि तुमने आज एकान्तभावसे प्राप्त किया है, ब्रह्माको भी प्राप्त नहीं होता ।'

ऊपरके कथनसे यह सिद्धान्त निकलता है कि श्रीभगवान्का अप्राकृत दिव्य रूप प्राकृत चक्षुसे नहीं देखा जा सकता है। ऐसे दर्शनके निमित्त दिव्यदृष्टि प्राप्त करना आवश्यक है जो श्रीभगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती है। साधक अपने इन्द्रिय, मन और बुद्धिको शुद्ध और वशमें करके आत्मराज्यमें स्थित होनेपर ही यथार्थ भगवद्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार जो स्वयं ऊपर जाना नहीं चाहते; बल्कि श्रीभगवान्को ही नीचे घसीटनेकी इच्छा करते हैं उन्हें भक्ति-भावनाके विरुद्ध समझना चाहिये। योग्य होनेपर क्षणमात्रके लिये भगवच्छटा दिखलायी भी दी तो उससे उसी प्रकार विज्ञानका उदय होगा जिस प्रकार सनकादिको हुआ था। परन्तु अयोग्य रहनेपर तो महान् तेजपुञ्जमय भगवद्दर्शनसे मनुष्य घबरा उठता है। अर्जुन भी भगवान्के दिव्य रूपको देखनेके लिये पूर्ण रूपसे तैयार न थे, तभी तो वह घबराकर कह उठे थे कि—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

'हे कृष्ण! आपके इस अदृष्टपूर्व रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ तथा मेरा मन भयसे व्याकुल हो रहा है।' जब अर्जुनकी यह हालत थी तब सामान्य पुरुषकी तो बात ही क्या है?

ऐकान्तिक भक्तिसे भगवद्दर्शन होता है। ऐकान्तिक भक्तिकी प्राप्तिके लिये निर्हेतुक भाव आना चाहिये, जिसमें श्रीभगवान्को

सर्वस्व अर्पण करनेकी अर्थात् सेवा करनेकी इच्छा हो और बदलेमें कुछ भी पानेकी तनिक भी चाहना न हो। एक आदर्श भक्त कहता है कि 'मैं चाहता हूँ कि श्रीभगवान् यह भी न जानें कि मैं उनकी सेवा-भक्ति करता हूँ, क्योंकि यह जाननेसे कदाचित् वह कुछ दे दें तो मेरी निर्हेतुकी भक्तिमें धब्बा लग जायगा।' अतएव दर्शन पानेकी अभिलाषा भी निर्हेतुकी भक्तिके प्रतिकूल है। साधकको अनुराग अवश्य रखना चाहिये परन्तु ध्यान रहे कि वह स्वार्थमय न हो। साधक भक्तका सदा यही अनुराग होना चाहिये कि चित्त सदा श्रीभगवान्के चरण-कमलमें अनुरक्त रहे तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि निरन्तर उनकी सेवामें रत रहे। भक्तोंकी सदा यही वाञ्छा रही है और उन्होंने भगवान्से वरदान भी यही माँगा है। कहा भी है—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्त्तक्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

वह कितनी बड़ी हानि, कितना बड़ा दोष तथा कैसी अन्ध-जड-मूढ़ता है जिसमें श्रीभगवान्का क्षणमात्र भी चिन्तन नहीं होता।

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

अब प्रश्न यह है कि यदि साक्षात् दर्शन ऋषियोंके निमित्त भी दुर्लभ है तो क्या जिज्ञासु पुरुषोंकी दर्शनकी आकांक्षा सफल नहीं हो सकती? इसका उत्तर यह है कि भगवान् भावके वशमें हैं—**'भाववश्य भगवान्!'** सच्चा भाव होनेपर उनके दर्शन अवश्य हो सकते हैं, परन्तु भावकी कमी है तो दूसरी बात है।

सब शास्त्रों, ऋषियों और संतोंका यह सर्वसम्मत मत है कि यह विश्व श्रीभगवान्‌का रूप है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(गो० श्रीतुलसीदास)

अतः विश्वमात्रको श्रीभगवद्रूप जान यथासम्भव इसकी निष्काम सेवाकर उसीमें तृप्ति प्राप्त करनी चाहिये। इस विश्वमें भी जो दरिद्र और असमर्थ हैं उनके विषयमें तो यही समझना चाहिये कि श्रीभगवान्‌ने स्वयं यह विशेष रूप धारण किया है जिसमें भक्तोंको उनकी सेवाकर यथार्थ साक्षात् भगवत्-सेवा करनेका मौका मिले। ऐसी सेवा ऐकान्तिक भक्तिकी मुख्य साधना है, परन्तु आजकल इसकी पूरी उपेक्षा की जाती है। श्रीमद्भगवद्गीताके दशवें अध्यायमें जो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समुद्र, हिमालय, पीपल, गरुड, गंगा, पवित्र कीर्तियुक्त पुरुष, सुन्दरता, पाण्डित्य, स्मृति, मेधा, धैर्य और क्षमायुक्त पुरुष, तेजस्वी और सत्त्ववान् पुरुष भगवद्विभूतिके रूपमें वर्णन किये गये हैं, इनका दर्शन भी भगवद्दर्शन है। भक्तोंद्वारा अर्चित श्रीभगवान्‌की प्रतिमाका दर्शन तथा भगवल्लीलाकी मूर्तियोंका दर्शन भी भगवद्दर्शन है। विशेषतः श्रीभगवान्‌के निर्हेतुक भक्तका दर्शन तो साक्षात् दर्शनके समान उपकारी है। परन्तु ऐसा दर्शन और उसका ज्ञान श्रीभगवान्‌की कृपासे ही होता है—

बिनु हरि-कृपा मिलहिं नहिं संता।

कल्पित दर्शन—शरीर-सम्बन्धी श्वास, नाद तथा बाह्यावलोकन, ध्यान, एकाग्रता आदि क्रियाओंसे भी भीतर और बाहर

दर्शन हो जाते हैं, किन्तु यह यथार्थ दर्शन नहीं है, क्योंकि साक्षात् दर्शनसे प्राप्त होनेवाली शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति इनमें नहीं होती । साधकको ऐसे दर्शनसे सावधान रहना चाहिये, कहीं इन्हींको यथार्थ दर्शन मानकर वह साधनसे उपराम न हो जाय । स्मरण रहे कि ऐसा दर्शन हृदयमें जहाँ भगवान्‌का वासस्थान है वहाँ नहीं होता ।

श्रीभगवत्-प्राप्तिकी मुख्य साधना—श्रीमद्भगवद्गीताके १८ अध्याय साधनाकी १८ पटरियाँ हैं, इसके जाननेके लिये गीताका भलीभाँति मनन करना चाहिये और तदनुसार जीवननिर्माणकी चेष्टा करनी चाहिये । निर्हेतुक लोक-हित कर्मयोगद्वारा चित्तकी शुद्धि होनेपर और यम-नियमादिके अभ्यासद्वारा इन्द्रिय और मनके निरोध करनेपर, तथा ज्ञानयोगद्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करनेपर जो अन्तिम साधना साक्षात् प्राप्तिकी रह जाती है उसका वर्णन गीतामें इस प्रकार आता है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

(१२ । ६)

'मेरे अनुरक्त साधक सम्पूर्ण कर्मोंको केवल मेरा कर्म जानकर उन्हें मेरे निमित्त करके मेरे सगुणरूपकी उपासना (निरन्तर चिन्तन) ध्यानयोगद्वारा करके मेरी सेवा करते हैं ।' स्मरण रहे कि श्रीभगवान्‌के साक्षात् वही कर्म हैं जिनसे उनके अंशभूत जीवोंकी यथार्थ भलाई होती है । सनकादिको दर्शन न

मिलनेका एक कारण यह भी था कि उन्होंने केवल अपने निमित्त तपस्या की थी, लोक-हितके निमित्त नहीं। यही कारण है कि उनको इस प्रकारकी भगवदाज्ञा हुई थी कि जब तुम देवताओंके कार्यमें सहायता करोगे तब तुम्हें दर्शन मिलेगा। परन्तु श्रीनारद-जी कीर्तनोपदेशद्वारा लोक-हितमें लगे रहते हैं, अतः उन्हें भगव-द्दर्शन प्राप्त हुआ था। यह परहित-निरतभाव ही भक्तका यथार्थ लक्षण है।

स्वप्न-दर्शन—श्रीयुत अमृतलाल सेन गुप्तद्वारा प्रणीत बंगला उपदेश-संग्रहके पृष्ठ ११६ में पूज्यपाद महात्मा श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी इस प्रकार उपदेश देते हैं—'स्वप्नमें यदि यथार्थ देव-दर्शन होगा तो विषयासक्ति नष्ट हो जायगी। इस प्रकारका यदि देव-दर्शन हो तो उसकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। उनके वाक्यके सुननेसे अथवा उनके स्पर्शसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह कभी नहीं भूला जाता तथा मनमें भी निश्चयपूर्वक विश्वास हो जाता है कि 'मैं धन्य हो गया' 'मेरा उद्धार हो गया।' जो यथार्थ देव-दर्शन नहीं होता केवल स्वप्नमात्र होता है उसमें यह बात नहीं होती। पूर्व-पूर्व जन्मोंमें जिन इष्टदेवोंकी जिस मूर्तिमें उपासना की हुई होती है साधन-सिद्धिके पूर्व वही देवता स्वप्नमें दर्शन देते हैं तथा उसके द्वारा साधकको आकर्षण करते हैं। पूर्व-युगोंमें भगवान् साक्षात् दर्शन दिया करते थे परन्तु कलिमें साक्षात् दर्शन सिद्धिलाभ होनेपर ही होता है। इसलिये पहले स्वप्नमें दर्शन हुआ करता है। महात्मा सद्गुरु जो स्वप्न

दिखलाते हैं वे सत्य हैं। इस कलिमें ध्याननिष्ठ साधकको प्रथम सद्गुरु तथा अपने इष्टदेवका दर्शन स्वप्नमें होता है तदनन्तर हृदयमें साक्षात्कार होता है।'*

यथार्थ साक्षात् दर्शन—अनन्य भक्तिके यथार्थ ध्यानादि साधना करनेपर श्रीगुरु तथा श्रीइष्टदेवके दर्शन हृदयमें होते हैं। जब हृदय शुद्ध, पवित्र तथा सब प्रकारकी कामनाओंसे शून्य हो जाता है तब उसमें श्रीभगवत्तेजका प्रकाश होता है। उस समय केवल दर्शन ही नहीं; बल्कि तेजपुञ्जका साक्षात् स्पर्श और अनुभव भी होता है। यही नहीं, साथ ही परम शान्ति और आनन्दका अनुभव भी होता है तथा श्रीइष्टदेवका प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त होता है। तब साधक कृतकृत्य हो जाता है। सिद्ध भक्तको ऐसा दर्शन और अनुभव प्रत्येक दिन ध्यानमें हो जाता है।

---

* इस कथनमें जो यह कहा गया है कि 'कलिमें साक्षात् दर्शन सिद्धिलाभ
होनेपर ही होता है ··· इष्टदेवका दर्शन स्वप्नमें होता है तदनन्तर हृदयमें साक्षात्-
कार होता है।' इसका तात्पर्य इतना ही है कि कलियुगमें साक्षात् दर्शन सिद्धि-
लाभके पूर्व अन्य युगोंकी भाँति प्रायः नहीं होता। शास्त्रोंमें हृदयमें दर्शनके
अनेकों प्रमाण हैं। परन्तु यह नहीं कि हृदयके अतिरिक्त नेत्रोंके सामने साक्षात्
दर्शन असम्भव है। भगवान्की कृपासे ही सिद्धिलाभ, यथार्थ निष्ठा और भाव-
की प्राप्ति होती है। और भगवत्कृपासे ही भक्तोंको भगवान्के दर्शन होते हैं।
कलियुगमें अनेकों ऐसे कृपापात्र भक्तोंको साक्षात् दर्शन हुए हैं। जब विग्रहमूर्ति
लीलामूर्ति और विश्वमें भगवद्विभूतियोंमें अभिमतका ध्यान साक्षात् दर्शनके तुल्य
है, तब साक्षात् दर्शन असम्भव कैसे हो सकता है। अतएव इस समय भी
उपर्युक्त भावनिष्ठासे भगवान्के साक्षात् दर्शन होने सहज हैं। —लेखक

इससे भगवान्‌का यह वाक्य सिद्ध हो जाता है कि वह भक्तद्वारा बद्ध हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें यह कथा आती है कि—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

(६।१७-१८)

'श्रीनारदजीको अनन्यभावसे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान करते हुए तथा अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठामें लगे हुए शनैः-शनैः हृदयमें श्रीभगवान्‌का दर्शन प्राप्त हुआ। तथा प्रेमातिरेकके कारण उनका शरीर पुलकित हो गया और वह आनन्दसिन्धुमें डूब गये।' इसके पश्चात् नारदजीके हृदयसे वह मूर्ति अलक्षित हो गयी और आकाशवाणी हुई कि इस दासी-पुत्रके शरीरमें केवल यही एक बार तुम्हें दर्शन हो सकता था, वही हुआ है। अब अगले जन्ममें तुम्हें दर्शन प्राप्त होगा।

दिव्य सन्देश—ऐसे भक्त प्रायः सभी समयोंमें हुआ करते हैं, इस समय भी वर्तमान हैं जिनके हृदयमें साक्षात् दर्शन तथा तेज-स्पर्श-आनन्दादिके अनुभव प्राप्त होते हैं। वह भक्त बहुत उत्सुक रहते हैं कि दूसरे लोग भी सत्संगके द्वारा उनके बतलाये

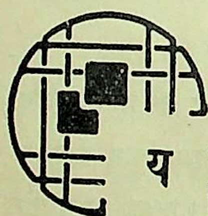
मार्गसे लाभ उठा भगवत्प्राप्ति कर जीवनको सफल करें। ऐसे भक्तके सत्संगसे योग्य साधकको बहुत कुछ समाधान हो जाता है और अन्तःकरणमें भी अनुभव होता है। ध्यान आदिकी भी ठीक रीति सत्संगद्वारा ही जानी जा सकती है। *



---

* लेख बहुत विचारपूर्वक लिखा गया है, इसे पढ़कर साधकोंको लाभ उठाना चाहिये। वास्तवमें अनन्य प्रेमसे ही भगवान्की कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपासे किसी भी साधकको भगवान्के यथार्थ साक्षात् दर्शन हो सकते हैं। दर्शनकी योग्यता प्राप्त कराना दूसरे शब्दोंमें दिव्यदृष्टि प्रदान करना आदि सारी बातें श्रीभगवान् स्वयं कर देते हैं। बस, अनन्य भावसे परम प्रेम-पूर्वक श्रीभगवान्की सेवा होनी चाहिये। सद्गुरुके वचनोंका अनुसरण करते हुए साधकको अपने प्रत्येक प्राप्त-कर्तव्य-कर्मसे समस्त विश्वमें व्याप्त परमात्माकी पूजा करनी चाहिये और सब कुछ उन्हींका, सब कुछ वही और संसारके प्रत्येक छोटे-बड़े व्यापारमात्रको उन्हींकी आनन्दमयी लीला समझकर उनके चरणोंमें बिना किसी शर्तके आत्मसमर्पणकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। —सम्पादक

शक्तिसञ्चार



यह एक प्रकारसे प्रत्यक्ष है कि संसार और उसके पदार्थ, शरीर, परिवार आदि सभी नश्वर हैं, और इनके संयोगसे आरम्भमें किञ्चित् सुख मिलनेपर भी परिणाममें तो ये दुःखद ही हैं। प्राचीन कालमें बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा हुए, परन्तु आज उनके वैभवका कोई चिह्न भी देखनेमें नहीं आता, कितनोंके तो नाम भी आज कोई नहीं जानता। जिसकी प्राप्ति और स्थितिके लिये लोग विशेष व्यग्र रहते हैं, वह लक्ष्मीदेवी भी परम चञ्चला हैं, कभी-न-कभी उनका वियोग अवश्यम्भावी है। यही दशा पृथ्वीकी भी है, उसका भाग भी एकके आधिपत्यसे दूसरेके पास अवश्य जाता है, इसके सिवा वह कभी एक-सी भी नहीं रहती, आजकल जहाँ

मनुष्योंका वासस्थान है, वहाँ कभी समुद्रकी लहरें हिलोरें लेंगी और आज जहाँ समुद्र है वहाँ कभी मनुष्योंका निवासस्थल हो जायगा । काल सबका ग्रास करता है, बालक तरुण आदि किसी-का भी वह तनिक विचार नहीं करता । मनुष्यके स्वास्थ्यकी स्थिति भी सर्वथा अनिश्चित है, जो एक दिन बड़े नीरोग, बलिष्ठ और हट्टे-कट्टे देखनेमें आते हैं थोड़े दिनोंके बाद ही वे रोगी, क्षीण और असमर्थ होकर क्लेश सहते देखे जाते हैं, और कई तो अकालमें ही कालके भी ग्रास हो जाते हैं ।

अनेक लोग केवल यश और नामवरीके लिये व्याकुल रहते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त व्यय और कष्ट सहन भी करते हैं परन्तु प्रथम तो मृगतृष्णाकी भाँति इसकी प्राप्ति कठिन है और कहीं किञ्चित् प्राप्ति भी हो जाय तो उससे संतोष न होकर अशान्ति ही बढ़ती है, क्योंकि यह देखा जाता है कि जिस स्वार्थ-परायण मनुष्यकी सौ व्यक्ति किञ्चित् प्रशंसा करते हैं तो दो सौ उसकी निन्दा भी करते हैं । इसी प्रकार आयु, स्वास्थ्य, लक्ष्मी, पृथ्वी, सुखसामग्री और यश आदि जो आजकल लोगोंके परम इष्ट हैं और जिनकी प्राप्तिको ही जीवनका मुख्य लक्ष्य मानकर लोग विविध चेष्टाओंमें व्यग्र हुए अत्यन्त व्याकुलतासे घुड़दौड़की-सी दौड़में प्रवृत्त हैं वे सब पदार्थ वास्तवमें क्षणभंगुर, निःसार, नश्वर और दुःखप्रद ही हैं ।

लोगोंको इन विषयोंकी क्षणभंगुरता और नश्वरता विदित है और यह भी विदित है कि जो पुरुष असत्, जड और नश्वर पदार्थ-

की आसक्ति त्यागकर सत्, चैतन्य और अमृतरूप परमार्थतत्त्व-को अपने जीवनका लक्ष्य बनाता है, वह संसृतिके दारुण दुःखसे सदाके लिये मुक्त हो सकता है—परमानन्दकी प्राप्ति कर सकता है। परन्तु परम आश्चर्य है कि इन बातोंको जानने और प्रत्यक्ष नेत्र-गोचर करनेपर भी हमलोग संसृतिके प्रवाहमें बहना ही पसंद करते हैं और इससे निकलनेका आश्रय मिलनेपर भी उसे त्याग देते हैं। इसीलिये हम आँखें रहनेपर भी अन्धे हैं, जागृत रहने-पर भी सुप्त हैं, क्योंकि हस्तगत परमानन्दको त्यागकर दुःख बटोर रहे हैं, चिन्तामणिको देकर बदलेमें चमकीले काँचके टुकड़े ले रहे हैं। गोसाईंजी कहते हैं—

जाके पास रहे चिन्तामनि सो कत काँच बटोरे।

परन्तु हम तो वही कर रहे हैं!

महाभारतमें कथा है, धर्मराज युधिष्ठिरसे यक्ष पूछते हैं कि 'संसारमें सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?' इसके उत्तरमें धर्मराज बहुत ठीक कहते हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० ३१३। ११६)

'प्रतिदिन प्राणी मरते हैं, किन्तु जो बचे हैं, वे समझते हैं कि हम नहीं मरेंगे। इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है?' महाराज भर्तृहरिने भी कहा है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

(भर्तृहरि० ३ । ४७)

'सूर्यके उदयास्तसे प्रतिदिन जीवन क्षय हो रहा है परन्तु व्यापारके बड़े कार्यकी भीड़में समयका बीतना मालूम नहीं होता। जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति और मृत्युके क्लेशको देखकर भी भय नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि जगत्के लोग मोहमयी प्रमादमदिराको पीकर पागल हो गये हैं।' इस लापरवाही तथा जानबूझकर कल्याणप्रद मार्गको परित्यागकर सर्वथा दुःखप्रद मार्गके अनुसरण करनेका कारण अविद्या, माया, मोह, अज्ञान, असावधानी और प्रमादादि हैं। अब प्रश्न यह है, इनसे छुटकारा कैसे हो ? इसका उत्तर है कि सत्संग, अनुशीलन, विचार-विवेक आदि ही छुटकारा पानेके उपाय हैं। इन उपायोंसे ही वैराग्य, ज्ञान और भक्ति आदि प्रकट होकर अविद्याके अन्धकारका नाश कर देते हैं।

आजकल सत्संग परम दुर्लभ है और असत् संग तथा असत् उपदेशोंकी भरमार है, जिनसे अज्ञानता और भी अधिक बढ़ी जा रही है। सुधार होना तो दूर रहा किन्तु कुसंस्कार उत्पन्न होकर परिणाममें पथभ्रष्ट कर देते हैं। ऐसी अवस्थामें धर्म, ज्ञान और भक्ति आदिकी ओटमें अनेक बुराइयाँ की जाती हैं और इसी अवस्थामें अधर्मको धर्म और पापको पुण्य माननेकी विपरीत

भावना उत्पन्न होती है। धर्मके नामपर आज विपुल व्यवसाय चल रहा है और **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** इस श्रुतिके अनुसार उपदेष्टा और श्रोता दोनों ही रसातलकी ओर चले जा रहे हैं! रामचरितमानसमें गोसाईंजी महाराजने ठीक कहा है—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।

यथार्थ ही भगवान्की कृपा बिना साधुसंग नहीं मिलता। अतएव वास्तविक साधुसंगकी प्राप्तिके लिये भगवत्-कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न पहले करना चाहिये।

पुस्तकोंका अवलोकन करना भी एक प्रकार सत्संग है किन्तु आजकल पुस्तक पढ़कर या उपदेश सुनकर जो किञ्चित् विवेक उत्पन्न होता है वह केवल भावनामात्र ही रह जाता है, वासना तथा कुसंगतिकी प्रबलतासे कार्यरूपमें परिणत नहीं हो पाता। अनेकानेक जन्मोंसे हमलोगोंकी प्रवृत्ति केवल विषयभोगोंकी ही ओर हो रही है और परमार्थ तत्त्वकी सर्वथा विस्मृति है, इस दीर्घकालके प्रबल संस्कारका विनाश करनेके लिये अभ्यास भी निरन्तर और दीर्घकालव्यापी ही होना चाहिये जो इन कुसंस्कारोंको सर्वथा समूल नष्टकर हमारे अन्तःकरणमें उत्तम संस्कार उत्पन्न कर सके। परन्तु भगवान्की कृपा और उनकी दिव्य शक्तिकी सहायता बिना इस अविद्याके अन्धकार और मोहपाशसे मुक्त होना असम्भव है। भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'मेरी अलौकिक त्रिगुणमयी माया अत्यन्त दुष्कर है, जो मेरी शरण आते हैं वे ही इससे पार पाते हैं।' श्रीभगवान्की शरण होना केवल उनकी परा अर्थात् दैवी शक्तिकी सहायतासे ही सम्भव है। गीता (९।१३) में भगवद्वाक्य हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'हे पार्थ! महात्मागण मेरी दिव्य शक्तिका आश्रय लेकर मुझे सब जीवोंका मूल और अविनाशी मानकर अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं।' इससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्का यथार्थ भजन भी श्रीभगवान्की दिव्य शक्तिके आश्रयसे ही होता है अन्यथा कदापि नहीं। गीताके अध्याय ७ श्लोक ५ में श्रीभगवान् अपनी इस पराशक्तिको जीवका कारण और आधार चिन्मयतत्त्व कहकर परिचय देते हैं। इसी शक्तिका नाम गायत्री, महाविद्या, वैष्णवी शक्ति और दुर्गा आदि है। अतएव सबसे पहले इस शक्तिके सञ्चय करनेका प्रयत्न करना परमावश्यक है। इसी कारण द्विजको प्रथम गायत्रीकी दीक्षा दी जाती है। इसी शक्ति-सञ्चयसे स्थायी विवेक, वैराग्य, शम, दम आदिकी प्राप्ति सम्भव है। इस शक्ति-सञ्चयके कतिपय उपाय यह हैं—

सबसे पहले आधारकी शुद्धि आवश्यक है, जिनके शुद्ध होनेपर ही उनमें इस शक्तिका सञ्चालन होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह परम दिव्यशक्ति शुद्ध और निर्मल आधारमें ही कार्य करती है, अतएव सात्त्विक भोजन, संस्कार और एकादशी आदिके

व्रतोपवासद्वारा शरीरको शुद्धि करनी चाहिये । गीता अ० १७ श्लो० ८ से १० तकमें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भोजनका वर्णन है, उनमेंसे तामसिक, राजसिकका त्यागकर केवल सात्त्विक भोजन (जिसके पदार्थ न्यायसे प्राप्त हों) का व्यवहार करना चाहिये । भगवान्‌का काम समझकर उनके निमित्त निःस्वार्थ भावसे किसी प्रकारके परोपकारी कार्य करनेमें (जो श्रीभगवान्‌का यथार्थ कैङ्कर्य है) शरीरकी शुद्धिमें विशेष लाभ होता है ।

स्थूल शरीरके सिवा सूक्ष्म शरीर, अन्तःकरण आदि भी आधार हैं, जिनकी शुद्धि स्थूल शरीरकी शुद्धिसे भी अधिक आवश्यक है । आधार काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष और मत्सर आदि दुर्गुणोंसे कलुषित होते हैं । इन दुर्गुणोंके दोष और उनसे होनेवाली हानि तथा इनके विपरीत सद्‌गुणोंकी उत्तमता, पवित्रता और उनसे होनेवाले लाभकी निरन्तर भावना करते रहनेसे दुर्गुणोंका पराभव और सद्‌गुणोंका सञ्चार होता है । सबसे पहले यह आवश्यक है कि किसी दुर्गुणसम्बन्धी भावनाको चित्तमें कदापि आने ही न दे क्योंकि यह भावना ही आगे चलकर दुर्गुण बन जाता है । गीताका वचन है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

(गीता २ । ६२)

विषयका ध्यान करनेसे ही उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह विषयभोगकी आसक्ति ही सारे अनर्थका मूल है। यदि हम

इस अनर्थ बीजको चित्तमें स्थान न दें, तो अनेक आपत्तियोंसे अनायास ही बच सकते हैं। पातञ्जल-योगदर्शनके वाक्य हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वितर्का हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (२।३३-३४) यथाभिमतध्यानाद्वा। (१।३९)

दुर्गुणोंके दमनके लिये उनके प्रतिकूल भावना करनी चाहिये, हिंसा आदि जो लोभ, क्रोध, मोहद्वारा की जाती है और उनके दोषोंके कारण जो मृदु, मध्य और अधिक मात्रामें दुःख और अज्ञानके व्यापक फल होते हैं, उनकी भावना करना प्रतिपक्ष-भावना है। जो अपेक्षित गुण हो उसीकी भावनासे उसकी प्राप्ति होती है। क्रोधदमनके लिये क्षमाके गुणोंकी भावना करनी चाहिये। कामनिग्रहके लिये ब्रह्मचर्यके सुमधुर फलोंका चिन्तन करना चाहिये, लोभनाशके लिये वैराग्यके विलक्षण प्रभावकी आलोचना करनी चाहिये, असत्यसे बचनेके लिये सत्यकी महिमा-का स्मरण करना चाहिये, हिंसासे छुटकारा पानेके लिये अपनी हानि करके भी परोपकारका (जो यथार्थ यज्ञ है) प्रभाव स्मरण करना चाहिये। स्तेयनाशके निमित्त दानकी भावना और अभिमान तथा मत्सर नष्ट करनेके लिये सर्वात्मभावकी भावना करनी चाहिये।

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म आधारोंकी शुद्धि होनेपर इन्द्रियों-

की वासना बहुत कुछ क्षीण तो हो जाती है, किन्तु समूल नष्ट नहीं होती। वासनाकी लिप्साका बीज बना ही रहता है, जो समयान्तरमें किसी विशेष अवस्थामें अंकुरित होकर प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि कभी-कभी अच्छे साधकमें भी किसी एक विषय-वासनाका प्रादुर्भाव होकर उसे सत्यमार्गसे स्खलित कर देता है! कारण यही है कि उसके अन्दर बीजरूपमें वासना वर्तमान थी। वासनाका सबीज नष्ट होना तभी सम्भव है जब कि साधक बुद्धिसे भी ऊपर जाकर आत्मामें स्थित हो जाय। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४२-४३)

'(शरीरसे) इन्द्रियाँ उच्च हैं, इन्द्रियोंसे भी उच्च मन है, मनसे उच्च बुद्धि और बुद्धिसे भी जो ऊपर है वही यथार्थ आत्मा है। इसप्रकार आत्माको बुद्धिसे ऊपर जानकर अन्तःकरण, शरीरादिको उसके अधीन करके तुम उस कामरूपी दुर्वृत्त शत्रुको जीतो।'

कामका पूर्ण दमन बुद्धिसे परे आत्मामें स्थित होने और शरीर, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि तथा आत्मामें समता एवं एकता स्थापित होनेसे होता है। यह समता और एकता तभी स्थापित

होती है, जब कि शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि आत्माके अनुकूल हो जाते हैं और विषय-भोगकी वासनामें प्रवृत्त न होकर स्वार्थत्यागपूर्वक आत्माके दिव्य गुणोंका प्रकाश करना ही जब इनका मुख्य उद्देश्य बन जाता है। इन गुणोंका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायके प्रारम्भके तीन श्लोकोंमें दैवीसम्पत्तिके नामसे है, जिनकी प्राप्तिका फल मोक्ष है।

जीवात्मा श्रीभगवान्का अंश है (गीता १५।७) अतएव उनकी परा प्रकृतिका ही रूप है, इस परा प्रकृतिका आश्रय लेना और इस दिव्य शक्तिका सञ्चार करना ही साधनका प्रधान लक्ष्य है, जैसा पहले कहा जा चुका है। कुत्सित वासना और दुर्गुणोंके नाश होनेपर आधारकी शुद्धि, निष्कामता और सद्गुणोंकी प्राप्ति होनेसे ही इस दिव्य शक्तिकी जागृति और इसका सञ्चार होता है। अतएव हमें इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये।



ममता ही दुःख है



इस संसारमें सभी दुखी हैं, सुखी एक भी नहीं। किसीको अन्न-वस्त्र-गृह-कष्ट, किसीको सन्तानाभाव-कष्ट, किसीको विग्रह-कष्ट, अधिकांशको व्याधि-कष्ट और जो लोग इनसे बचे हुए हैं उनको तृष्णा-कष्ट अर्थात् वर्तमान धन-जन-वैभव आदिसे सन्तुष्ट न होकर अधिककी इच्छा और अधिक मिलनेपर और भी अधिककी तृष्णा। ऐसे लोग तो गरीबोंसे भी अधिक दुखी हैं। ठीक ही कहा है—**'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः'** अर्थात् अधिक तृष्णा रखनेवाला ही दरिद्र है। इस सर्वव्यापी घोर-तर कष्टका कारण केवल अविवेक और मोह है। यह नाम-

रूपात्मक बाह्य जगत् सच्चिदानन्दका विलास अर्थात् लीलामात्र है। यह समस्त बाह्य विषय असत्, जड़, दुःखमय और सच्चिदानन्दमें केवल अध्यारोपित हैं, इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अर्थात् स्थिति नहीं है, किन्तु अविद्याके कारण लोग नाम-रूपात्मक असत् और दुःखद अनात्म बाह्य विषयको सत् और सुखरूप मानते हैं, एवं इसके परम आधार और यथार्थ सुखके एकमात्र कारण परमात्माको असत् समझकर उससे दूर भागते हैं। यहाँ-तक कि उसके अस्तित्वका भी ज्ञान नहीं रखते। इस प्रकार लोग यथार्थ पदार्थको त्यागकर उसकी छायाकी ओर आकृष्ट होते हैं एवं नाना प्रकारके दुःख पाते हैं। छायासे सुख तो कैसे मिल सकता है?

यह संसार परमात्माकी लीला है, इसमें जितने नाम और रूप हैं, उन सबके आधार परमात्मा हैं, वास्तवमें वे सब परमात्माके ही हैं; अतएव जो मनुष्य इस परमात्माके लीलात्मक विश्वके नाम और रूपवाले विषयमें ममत्व (मेरापन) करता और लीलाके कार्यमें अहंकार करता है, वही इस मायाके जालमें बद्ध हो संसृतिचक्रमें पड़कर विविध दुःख भोगता है। संसारके सब पदार्थ परमात्माके हैं, ये उनपर अध्यारोपित हैं, स्वतन्त्र कदापि नहीं हैं। हमलोग भ्रमसे धन, वैभव, सन्तान, गृह, भूमि, वाहन आदि पदार्थोंको अपना समझते हैं और इनके सम्बन्धमें परमात्मा, जो हमलोगोंके द्वारा लीला कर रहे हैं, उस लीलाकी क्रियाको अपनी क्रिया जानकर अहङ्कार करते हैं। इस प्रकार हमलोग मायाके चक्रमें

फँसते और कष्ट पाते हैं । अतएव इस संसारकी संसृतिकी चक्कीमें पीसे जानेके दुःखसे छूटनेका मुख्य उपाय ममता और अहङ्कारका त्याग है । यह शुष्क ज्ञानाभिमानियोंका त्याग नहीं है जो संसारको तो मिथ्या कहते हैं, परन्तु इन्द्रियोंके विविध प्रकारके भोग्य विषयोंका संसर्ग सदा आसक्तिपूर्वक करते रहते हैं । वास्तविक त्यागमें सांसारिक वस्तु अपनी (जो मिथ्या ममत्व है) न समझी जाकर परमात्माकी समझी जाती है जो यथार्थमें सत्य है और कर्ता स्वयं अपनेको करनेवाला न मानकर परमात्मारूप यन्त्रीके हाथोंमें यन्त्र बनकर अपनेको परमात्माद्वारा सञ्चालित समझता है, एवं वह निमित्तमात्र बनकर केवल श्रीपरमात्माका ही कार्य करता है । इस कार्यके करनेमें भी वह सत्य, क्षमा, दया, अहिंसा, समता आदि परमात्माके गुणोंद्वारा ही काम लेता है । असत्य, हिंसा आदि विरुद्ध गुणोंका उससे कदापि सम्पर्क नहीं होता ।

ऐसा समर्पितात्मा साधक यह नहीं समझता कि ये शरीर, परिवार, घर, धन, जमीन आदि मेरे हैं, वह इन सबको परमात्माका समझता है, साथ ही यह भी समझता है कि इनका मुझसे सम्बन्ध केवल परमात्माकी लीलाके कार्यके लिये ही हुआ है । वह परमात्माकी इच्छानुसार अपनेको उनकी शक्तिसे सञ्चालित मानकर उनका उचित व्यवहार करता है, स्वार्थके निमित्त कदापि नहीं करता । इस प्रकार जिन सब वस्तुओंको हमलोग अपनी मानते हैं, वे वास्तवमें श्रीपरमात्माकी हैं, हमलोग तो ममत्वके कारण आसक्तिसे बद्ध होकर उसके द्वारा स्वार्थवश दुःख पाते हैं और बारंबार बन्धनमें पड़ते हैं ।

हम समझते हैं कि अपने सम्बन्धके सांसारिक पदार्थको हमने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया है, और हम ही उसकी रक्षा कर रहे हैं, किन्तु यह सर्वथा भूल है। यथार्थमें सब पदार्थ, आत्मातक, श्रीपरमात्माके हैं और उनका उपार्जन, पालन, पोषण भी श्रीपरमात्मा ही करते हैं। हम समझते हैं कि हम संसारके हितार्थ ही कोई विशेष कर्म अथवा ईश्वरसम्बन्धी कार्य करते हैं और करेंगे, परन्तु यह व्यर्थ अहङ्कार है, क्योंकि हमलोगोंकी शक्ति और इन्द्रियादि साधन सब-के-सब श्रीभगवान्‌के हैं। अतः किसी भी कर्मके कर्तापनका अहङ्कार भ्रम है। लिखा है-**'उर-प्रेरक रघुबंसबिभूषन'**- **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'** हमलोगोंको चाहिये कि श्रीभगवान्‌के पदार्थ और शक्तिमें ममता, अभिमान और अहङ्कारकर उनका दुरुपयोग न करें, जो गुणमयी अविद्याके—अज्ञानके कारण होता है। हमलोगोंका धर्म है कि अपने जीवात्माको श्रीपरमात्माका अंश मानकर उसके द्वारा श्रीपरमात्माकी शक्तिसे और परमात्माकी इच्छाके अनुसार सब कर्मोंको करें। ममता, अहङ्कार और स्वार्थसे कदापि कोई कर्म न करें। केवल श्रीपरमात्माकी सेवाके लिये आत्म-समर्पण करनेसे ही यह भाव सम्भव है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ भी नहीं सोचती, उसका लक्ष्य केवल पतिकी सेवा ही रहता है। अपनी आवश्यकताओंको वह पतिपर निर्भर-कर एकदम भुला देती है और उसका पति उसको जिस प्रकार रखता है, उसीमें प्रसन्न रहती है। इसी प्रकारका भाव भगवान्‌के प्रति भक्तका होता है। कभी कोई असुविधा, अभाव, दुःखादि आ

जाते हैं तो वह उनको श्रीपरमात्माके द्वारा प्रेरित और उन्हींकी इच्छाके अनुसार, उन्हींके कार्य अथवा वस्तुके सम्बन्धमें प्राप्त हुए जान उनका आना अपने हितके लिये समझता है और प्रसन्न रहता है। **'यदृच्छालाभसंतुष्टः'—'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।'** भक्तप्रवर श्रीमाधोदासजीको दस्तकी बीमारी होनेपर श्रीभगवान् स्वयं उनकी सेवा करने लगे और उनका मलमूत्र फेंकने लगे, किन्तु श्रीमाधोदासजीके, इस उद्देश्यसे कि जिससे श्रीभगवान्‌को कष्ट न करना पड़े, रोगकी निवृत्ति चाहनेपर श्रीभगवान्‌ने रोगनिवृत्ति करनेसे इन्कार कर दिया, उन्होंने कहा कि 'इस प्रारब्ध-कर्मके फलरूपी दुःखको भोगनेसे बड़ा लाभ होता है, इससे जीवको कर्मबन्धनसे छुटकारा मिल जाता है। कर्मफलका भोगना ही आवश्यक है, भोगको रोकनेसे भविष्यत्‌में अधिक दुःख होता है।' जब श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं तो दुःख भेजते हैं। श्री-जानकीजी और पाण्डवोंकी दशापर विचार कीजिये। स्वयं श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने वनवास और श्रीकृष्णचन्द्रजीने व्रजमें वनवासका कष्ट अपने ऊपर लिया था।



परम आश्चर्य



हाभारतकी कथा है, यक्षके प्रश्न 'आश्चर्य क्या है' के उत्तरमें धर्मराज युधिष्ठिरने कहा था कि, 'प्रतिदिन लोग मरकर यम-सदन जा रहे हैं, यह देखते हुए भी बचे हुए लोग ऐसी बुद्धिसे व्यवहार करते हैं मानो वे कभी नहीं मरेंगे' यही आश्चर्य है। परन्तु देखा जाता है कि जगत्में इससे भी अधिक आश्चर्य एक और है। इस विश्व-ब्रह्माण्डमें जो सबसे परमोत्तम, परम उत्कृष्ट, परम श्रेयस्कर और परम कल्याण तथा शान्तिप्रद है, एवं जिसकी प्राप्तिके लिये शारीरिक कष्ट-सहन, द्रव्यादि व्यय और किसी भी आवश्यक इष्ट-पदार्थके त्याग आदि

कठिन कर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, उस परम वस्तुके लाभके लिये कोई विरला ही पुरुष समुचित प्रयत्न करता है ।

किसी एक व्यावहारिक विद्याकी प्राप्तिके लिये प्रचुर द्रव्यका व्यय, शारीरिक कष्ट, बहुदूर यात्रा, यथेष्ट त्याग और बुद्धिकी तीक्ष्णता आदिकी आवश्यकता है और इन समस्त साधनोंके सम्पन्न करनेपर भी बहुत-से लोगोंको उक्त विद्याकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती। धन-ऐश्वर्यके उपार्जनके लिये भी विद्या, बल, मूलधन, शारीरिक परिश्रम और बुद्धिप्रयोग आदिकी आवश्यकता होती है एवं इनका प्रयोग करनेपर भी कई जगह प्रायः सफलता नहीं मिलती और सफलता मिलनेपर भी प्राप्त धन प्रायः नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार सन्तति आदिकी प्राप्ति भी कठिनतासे होती है और होनेपर वियोग भी हो जाता है। जिसके पास द्रव्य, बल, विद्या और स्वास्थ्यादि आवश्यक साधनोंका अभाव होता है, उसको सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति प्रायः नहीं हुआ करती । ये सांसारिक पदार्थ नश्वर क्षणभङ्गुर तथा परिणाममें दुःखप्रद हैं। इतना होनेपर भी सब लोगोंको इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, तथापि मनुष्य इन्हीं नश्वर, यथार्थ सुखहीन और परिणाममें प्रायः दुःखद पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये ही व्यग्र और व्यस्त रहते हैं, परन्तु उस इष्ट पदार्थकी प्राप्तिके लिये,—जिसके प्राप्त होनेपर समस्त दुःख दूर हो जाते हैं; सदा स्थायी रहनेवाली, वियोगकी सम्भावनासे शून्य परम शान्तिकी प्राप्ति होती है तथा जिसके प्राप्त करनेमें कोई भी अनिवार्य अड़चन नहीं आती एवं न किसी ऐसी सामग्री या साधनाकी ही आवश्यकता

होती है जो सबको प्राप्त या सुसाध्य न हो,—लोग जान-बूझकर भी यत्न नहीं करते, इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा ?

इस परम इष्ट ईश्वरकी प्राप्ति हो जानेपर असत्यके बदले सत्य, मरणके बदले अमरत्व, जडकी जगह चैतन्य, दुःखके स्थानमें परम सुख, उद्वेगके बदले परम शान्ति, अज्ञानके बदले परम ज्ञान और निर्बलताके बदले अनन्त शक्ति आदि मिल जाती हैं। इस परम आराध्य परमात्माकी प्राप्तिमें द्रव्यकी भी कोई आवश्यकता नहीं, बल्कि धनीकी अपेक्षा निर्धनको सुगमतासे इसकी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌का वाक्य है कि 'मैं अपने भक्तको दरिद्र बना देता हूँ जिससे उसे मेरी प्राप्तिमें बाधा देनेवाली कोई आसक्ति नहीं रह जाती।' दीनोंको दान देना उत्तम है, दानसे चित्तकी शुद्धि और स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है, किन्तु ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति दानद्वारा नहीं हो सकती। शास्त्रज्ञानकी प्राप्तिके लिये उचित परिश्रम और बुद्धिकी विलक्षणता आदि आवश्यक हैं, परन्तु ईश्वरप्राप्ति तो इनके बिना भी हो सकती है। सिद्धि प्राप्त करा देनेवाली तपस्या और यज्ञ भी बिना कष्ट और त्यागके सम्पन्न नहीं होते, किन्तु ईश्वरप्राप्तिके लिये इनकी आवश्यकता नहीं। योग परम कठिन है और सबके लिये सुसाध्य नहीं है, परन्तु भगवत्प्राप्ति बिना योगसाधनाके हो जाती है। कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११।५३)

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(मुण्डक० ३।२।३)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! मेरा यह रूप न स्वाध्यायसे, न तपस्यासे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता है जैसा कि तुमने देखा है। हे उद्धव! मैं (भगवान्) न तो योगसे, न सांख्यज्ञानसे, न वेदविहित क्रियाओंसे, न वेदपाठसे, न तपसे और न त्यागसे वैसा सहजमें मिलता हूँ जैसा कि अपनी दृढ़ भक्तिसे।' 'यह परमात्माकी प्राप्ति न शास्त्रज्ञानसे होती है, न बुद्धिसे होती है और न अधिक श्रवणसे ही।' यही परमेश्वरकी परम दयालुता और कारुणिकताका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अपनी प्राप्तिको उन्होंने सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे भी अधिक सुगम कर दिया है। इसीलिये ईश्वरप्राप्तिमें द्रव्य, सम्पत्ति, बल, शास्त्रज्ञान, बुद्धि, तप, यज्ञ, योग और शारीरिक कष्ट आदि किसीकी भी कुछ आवश्यकता नहीं। ईश्वरप्राप्ति तो केवल अनन्यभक्तिसे ही होती है। भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

'हे अर्जुन! केवल अनन्यभक्तिसे मेरा ऐसा रूप देख सकते हो।' भक्ति प्रेमपूर्वक भजन और स्मरणको कहते हैं जिसके लिये केवल मन-बुद्धिका अर्पण अपेक्षित है, अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९ । ३०)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ।
(नारदसूत्र ७२)

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
(भागवत ११ । १२ । ८)

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किन्तत् सुदाम्नो धनम् ।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

'यदि दुराचारी भी अनन्यचित्तसे भजन करता है तो उसको साधु समझना चाहिये, क्योंकि उसने यथार्थ मार्गका ग्रहण किया है । हे अर्जुन ! मेरे शरणमें आनेपर पापयोनि, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमपदको प्राप्त करते हैं । परमेश्वरकी भक्तिके लिये जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिकी आवश्यकता नहीं है ।' श्रीभगवान्का वाक्य है कि केवल भावसे ही गोपी, गौ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, मृग और दूसरे मूढ़बुद्धि कालियादि सर्प अनायास ही मुझको पाकर कृतार्थ हो गये । व्याधका क्या आचरण था ? ध्रुवका क्या वय था ? गजेन्द्रने कौन-सी विद्या पढ़ी थी ? कुब्जामें क्या सौन्दर्य था ? ब्राह्मण सुदामाके पास कौन-सा धन था ?

विदुरका क्या वंश था ? यादवपति उग्रसेनके कौन-सा बल था ? तथापि श्रीभगवान्‌ने इन लोगोंके प्रति विशेष कृपा दिखलायी ! इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् भक्तिके भूखे हैं और उसीसे प्रसन्न होते हैं, किसी गुणविशेषसे नहीं । इस प्रसंगमें श्रीशबरी-जीका उदाहरण भी विचारणीय और परम आदर्श है ।

ईश्वरकी प्राप्तिमें सांसारिक व्यवहार त्याग करनेकी भी आवश्यकता नहीं । गीताका वचन है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८ । ७)

'अतएव सब समय मुझ (भगवान्) को स्मरण करते हुए युद्ध करो, क्योंकि मन-बुद्धिके मुझमें अर्पण हो जानेपर निस्सन्देह मेरी ही प्राप्ति होगी ।' भगवत्प्राप्तिका एकमात्र उपाय है भगवत्स्मरण, जो सबके लिये सुसाध्य है । इसमें द्रव्य, सम्पत्ति, विद्या-बल, विदेशयात्रा, तीर्थाटन, अध्ययन, तपस्या, योग, यज्ञ, त्याग, शारीरिक कष्ट और उपवास आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं । दीन, दुखी, असहाय, निर्धन, निर्बल आदि सभी असमर्थ भगवत्स्मरण कर सकते हैं । धनादि सांसारिक पदार्थ, देवदर्शन, साधुसंगति और तीर्थस्नानादिके लिये स्थानान्तरमें जाना पड़ता है जिसमें व्यय और परिश्रम तो होता ही है परन्तु कितने ही ऐसे भी स्थान हैं जहाँ सबके लिये पहुँचना भी असम्भव है; पर ईश्वरप्राप्तिके लिये एक पैर भी चलनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि अपनी प्राप्तिको सबके लिये सुलभ कर देनेके निमित्त श्रीभगवान् सबके हृदयमें सदा-सर्वदा पूर्ण सत्तासे विराजमान हैं । (गीता १८ । ६१) यह केवल हमलोगोंका दोष है कि ईश्वरके इतने निकटतम और परम

सुलभ होनेपर भी तथा जिनकी प्राप्तिसे समस्त दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, यह जाननेपर भी हम उनकी अवहेलना करते हैं और ईश्वरके नियमोंका भंग कर भ्रमात्मक बाह्य सुखोंके लिये दीप-पतंगकी भाँति दिन-रात मायाकी ज्वालामें दग्ध हो रहे हैं। इसमें मुख्य कमी हमलोगोंके दृढ़-संकल्प न होनेकी है। यथार्थमें हमलोगोंने ईश्वरप्राप्तिको ही पूर्णरूपसे अपना लक्ष्य नहीं बना लिया है। हमारा मुख्य इष्ट विषयवासना है, इसीलिये हमें ईश्वरप्राप्ति नहीं होती। मुण्डकोपनिषद्का यह कथन यथार्थ है—

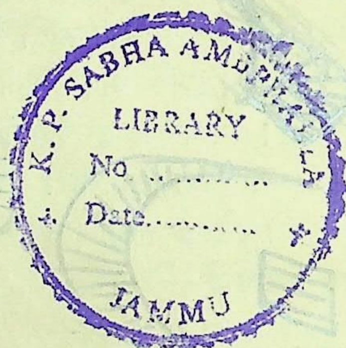
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

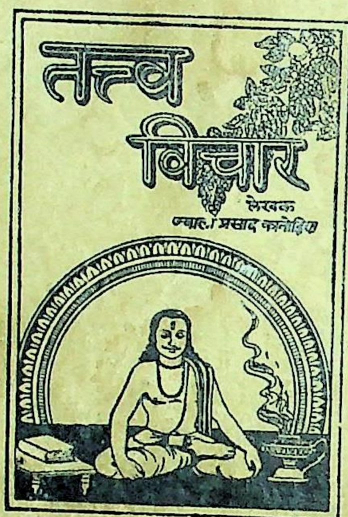
जो आत्माको वरण यानी प्राप्त करनेके लिये दृढ़ संकल्प करता है उसीके लिये परमात्मा अपना रूप प्रकाशित करता है। कलियुगमें तो ईश्वरप्राप्तिका मार्ग और भी सुगम हो गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

कलियुगमें अनेक अवगुण होनेपर भी एक बड़ा गुण यह है कि केवल श्रीभगवान्के नामकीर्तनसे ही बन्धनसे छुटकारा होकर परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार परम कल्याण और परमानन्दके आलय श्रीभगवान्की प्राप्ति परम सुलभ और परम सुगम होनेपर भी हमलोग उसकी ओर ध्यान न देकर नश्वर और परिणाममें दुःखप्रद विषयवासनाकी ओर ही आकर्षित रहते हैं। यही सबसे बड़ा परम आश्चर्य है!







पृ० २०१, मू० ।=)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

